दुर्गम पथ

[वीरता, साहस और खोज की कहानियाँ]

श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

संपादक

संतराम 'विचित्र'

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

दिल्ली — जालन्धर — लखनऊ

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
आसफअली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
लाल बाग लखनऊ
माई हीरां गेट जालन्धर

१९५७

मूल्य
दो रुपये

श्री गौरीशंकर शर्मा, अध्यक्ष, प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, २७ शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली, द्वारा मुद्रित।

निवेदन

अन्वेषण का मार्ग दुर्गम है। दुर्गम मार्ग का पथिक वही तो हो सकता है, जो साहसी हो, जो वीर हो। साहस और वीरता के बिना दुर्गम मार्ग गम्य नहीं बन सकता। और जिसने दुर्गम मार्ग को लाँघ लिया, वही सफल होता है, उसी का जीवन सफल जीवन कहलाता है। किन्तु सफल जीवन भी उसी का होता है, जिसने दुर्गम पथ को पार कर लिया है, अथवा जिसने दुर्गम पथ की राह में अपने को खो दिया है। क्योंकि उसके जाने के उपरान्त पुनः साहसी एवं वीर आगे बढ़ते हैं और क्षण भर को बुझी दीप-शिखा को पुनः प्रज्ज्वलित कर सफलता रूपी दीपक को चिर-दीप्त कर देते हैं।

वर्तमान में हम स्वतन्त्र देश के वातावरण में जी रहे हैं। स्वतन्त्र देश के नागरिकों के दायित्व महान् होते हैं। उन्हें वर्तमान और भविष्य को उज्ज्वल बनाना होता है, उन्हें अपने कर्त्तव्य के प्रति दृढ़ चट्टान की भाँति स्थिर रहना होता है, उन्हें देश-कल्याण के कार्यों के लिए साहस के बल पर अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करना होता है, उन्हें देश के ओर-छोर को नापना होता है, उन्हे अपने उद्देश्य की सफलता के लिए महान् आपदाओं का सामना करना होता है; और तब वह स्वतन्त्र देश के नागरिक बनकर देश के नाम को चमत्कृत करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में वीरता, साहस एवं अन्वेषण से सम्बन्धित मनोरंजनपूर्ण कहानियाँ उपस्थित की गई है। यथासंभव नवीनतम घटनाओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा की गई है। भाषा एवं भावों

की दृष्टि से विद्यार्थियों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा गया है। इसके अतिरिक्त अपने देश के विषय में विशिष्ट उल्लेख किया है। विश्व के अन्य देशों के साहसिक एवं वीरतापूर्ण तथा अन्वेषण के कार्यों को भी तुलनात्मक दृष्टि से उपस्थित किया गया है।

हमारे देश के भावी नागरिक इन घटनाओं से अपने भावी जीवन को विकसित कर सकेंगे, और देश-कल्याण का मार्ग अपना सकेंगे, ऐसी दृढ़ आशा है।

प्रस्तुत पुस्तक की पाठ्य-सामग्री के कुछ अंश उद्धृत किये गए है, कुछ खोज करके लिखे गये है, कुछ का अनुवाद किया गया है, हम उन सबके लिए लेखकों एवं प्रकाशकों के आभारी हैं।

—संपादक

देश के भावी नागरिकों को
सस्नेह

क्रम

वी र ता

काश्मीर-घाटी का युद्ध

श्री जिन्ना और उनकी मुस्लिम लीग की द्वि-राष्ट्र नीति के आधार पर अन्ततः भारत का विभाजन हो गया—पाकिस्तान और भारत। विभाजन से पूर्व एवं पश्चात् की साम्प्रदायिक घटनाओं के चक्र अभी चल ही रहे थे कि इसी बीच पाकिस्तान ने उत्तर-पश्चिमी सीमांत के कबायलियों की सहायता से जम्मू-काश्मीर प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। विभाजन से पूर्व-घोषित नीति के अनुसार काश्मीर ने भारत के साथ विलय की घोषणा की थी। किन्तु पाकिस्तान इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश का अपने राज्य मे विलय कर लेना चाहता था। जब ऐसे दाल गलती न दीखी तो उसने कबायलियों को यह कहकर भड़काया कि भारत काश्मीर के मुसलमानों को हिंदू कर लेगा। धर्म के नाम पर जाहिल कबायली जम्मू से लेकर गिलगित-लद्दाख तक की विस्तृत सीमाओं पर छा गए।

पाकिस्तान कबायलियों को इसलिए लाया था कि वह प्रत्यक्षतः युद्ध में नहीं पड़ना चाहता था। किन्तु गुप्त रूप से अपनी सेनाओं तथा साज-सामान से पूरी सहायता करना चाहता था। प्रकट रूप में यदि पाकिस्तान भारत से लोहा ले बैठता, तो संभव था कि नवजात पाकिस्तान का तत्काल ही गला घुट जाता। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतियों और अनेक विदेशी राष्ट्रों की छिपी चालों के कारण पाकिस्तान ने शिखंडी का रूप धारण किया। किन्तु पाकिस्तान का यह शिखंडी-रूप बहुत दिन तक छिपा न रह सका, और भारतीय सेनाओं ने जब उनके सैनिकों, शस्त्रों तथा अन्य सैनिक-सामग्री को विजय-क्रम मे अधिकृत किया, तब भी पाकिस्तान ने अपनी इस मूर्खता को स्वीकार नहीं किया।

इधर विभाजन के कारण जम्मू-काश्मीर तथा शेप भारत के वीच यातायात के मार्ग का अभाव-सा था। केवल एक ही लम्वा और वीहड़ मार्ग था। शेप रेल तथा भूमि-मार्ग पाकिस्तान में जा चुके थे। अवशिष्ट मार्ग अमृतसर से पठानकोट तक रेल, और उपरांत पठानकोट से ६० मील तक लारी अथवा मोटर द्वारा जम्मू तक पहुँचने का मार्ग था। यह मार्ग भी नियमित रूप से निर्मित नहीं था। नदी-नालों पर पुलों तक का अभाव था। कच्ची सड़क थी।

इन्हीं त्रुटियों को दृष्टि में रखते हुए पाकिस्तान ने सहज ही जम्मू-काश्मीर को हड़प लेना चाहा था, किन्तु नव-भारत के कर्णधारों ने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं। पाकिस्तान के इस आकस्मिक आक्रमण से भारत भर में वेचैनी के वादल छा गये। समूचे भारत में पाकिस्तान के विरुद्ध और भी तीव्र आग भड़क उठी। इससे पूर्व विभाजन के कारण साम्प्रदायिक अग्नि ने सम्पूर्ण भारत में, और विशेपकर उत्तर-भारत में चारों ओर अशांति का वातावरण उत्पन्न कर रखा था, और पाकिस्तान के कर्णधारों द्वारा प्रस्तुत दुर्नीति ने तो उस अग्नि में घी का काम किया।

पाकिस्तान ने "आजाद काश्मीर" रेडियो तथा पाकिस्तानी समाचार-पत्रों द्वारा विष उगलना आरम्भ किया। भारतीय नेताओं तथा भारत पर अनेकानेक झूठे आरोप लगाये जाने लगे। सारा वायुमंडल दूपित हो उठा। प्रत्येक भारतीय पाकिस्तान के इस छिपे आक्रमण से विचलित हो गया। नव-भारत के कर्णधार इस स्थिति से निश्चिंत नहीं थे। उन्होंने जिस धैर्य और साहस का परिचय दिया, वह संसार मे अभूतपूर्व है। भारतीय कर्णधार निहत्थे नहीं थे; नभ, जल और थल की सशस्त्र सेनाएँ उनके आदेश की प्रतीक्षा में समुद्यत खड़ी थीं। वे चाहते तो पाकिस्तान को ईंट का जवाव पत्थर से दे सकते थे। यदि उनके हृदय में भी

आर्म्स" (To arms—शस्त्र-सज्जित होने का आदेश) की गूंज से न केवल नियमित सैनिक, प्रत्युत पाचक, रसोइए तथा अन्य असैनिक कार्यकर्त्ता बात-की-बात में लैस होकर जमा हो गए। और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि टिड्डीदल की भाँति अग्रसर होने वाले कबायलियों से लोहा लेने वाले उन साहसी वीरों की संख्या कुल १५० थी।

ब्रि० राजेन्द्रसिंह जानते थे कि शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए यह संख्या नाम-मात्र की है, किन्तु अपने सैनिकों के मर-मिटने के अपूर्व उत्साह को देखकर उन्हें ऐसा लगा कि उनकी सेना असंख्य है। वीरता और साहस में संख्या जैसी परिमितता को स्थान कहाँ! उनकी टुकड़ी के प्रत्येक सैनिक के मुंह पर "तख्त या तख्ता" था, अर्थात् विजयी होंगे, तो विजय-सुख लाभ करेंगे अन्यथा वीरगति को प्राप्त होंगे। फलत. उन्होंने दोमेल की सहायता के लिए प्रस्थान किया।

गढ़ी के निकट इस टुकड़ी का शत्रु से सामना हो गया। भीषण संग्राम हुआ। राजेन्द्रसिंह की टुकड़ी ने शत्रु का करारा मुकाबला किया। किन्तु शत्रु की सहायता के लिए और कुमुक आ गई। और राजेन्द्रसिह तो चले थे केवल १५० सैनिक लेकर। पीछे से कुमुक आनी भी कहाँ से थी। परिस्थिति-वश वे गढ़ी से तीन-चार मील पीछे हट गए। शत्रुओं की संख्या कई गुना अधिक हो गई थी और जिस जी-जान से इस छोटी-सी टुकड़ी ने मुकाबला किया था, उसके कारण इसकी संख्या और भी कम हो गई। अनेक वीरों को सद्गति प्राप्त हुई।

लाचार ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह अपने शेष सैनिकों को लेकर बारामूला की दिशा में बढ़े और वहाँ से उन्हें छोटी-सी कुमुक प्राप्त हो सकी। इससे उत्साहित होकर उन्होंने पुनः अपने दस्ते का संगठन किया और उरी की ओर बढ़े। इस दिशा मे बढ़ते हुए उन्होंने उरी के पुल को नष्ट कर दिया और शत्रु को आगे बढ़ने से रोकने की

स्थिति में डट गए। उन्होंने, और अनेक सैनिकों ने दृढ़ निश्चय किया कि जब तक जान-में-जान है, लड़ते रहेंगे।

तदनुसार, चार घंटे तक निरंतर गोलियाँ चलती रहीं और राजेन्द्रसिंह के दस्ते को अनिवार्यतः माहुरा तथा उपरान्त रामपुर की दिशा में हटना पड़ा। यहाँ अँधेरे-ही-अँधेरे में खंदकें खोदी गईं और जमकर ग्यारह घंटे तक युद्ध हुआ। इस भीषण मुकाबले में राजेन्द्रसिंह-जी की टुकड़ी को भारी हानि सहन करनी पड़ी। अन्ततः, पीछे की ओर स्थिर स्थिति में हटना शुरू किया। अभी वह दो-सौ गज तक ही हटे होंगे कि उनके दाहिने हाथ तथा टाँग में गोली लगी। इस तरह भयंकर रूप में घायल होने पर भी वह निरुत्साह नहीं हुए। वह अपने आदमियों को दृढ़ निश्चयी रहने की प्रेरणा करते रहे। रह-रह कर तड़ातड़ गोलियों की बौछार में राजेन्द्रसिंह उन्हें कहते—"शत्रु को जीते-जी बढ़ने न दो, जमे रहो।"

धीरे-धीरे उनकी टुकड़ी के सब आदमी निश्चित स्थिति तक हट गए। वह घायल थे—बाँह से रक्त की धार वह रही थी। टाँग की हड्डी टूट चुकी थी। पृथ्वी पर निरंतर रक्त गिर रहा था। राजेन्द्रसिंह अविचल थे कि एकाएक शत्रुओं ने उन्हें आ घेरा। राजेन्द्रसिंह उस असहाय-दशा में शत्रु के हाथों में पड़ गए, किन्तु उनका काम पूर्ण हो चुका था। उन्हें सौंपा गया था कि शत्रु को श्रीनगर की ओर बढ़ने से रोकें। उन्होंने एक छोटी-सी टुकड़ी के सहारे यह महान् कार्य संपन्न किया। धन्य हैं राजेन्द्रसिंह और उनके साथी। और उसके उपरान्त आज तक उस वीर के विषय में कुछ भी सुन नहीं पड़ा। हाँ, उनकी अलौकिक वीरता के गीत सैनिक गाते हैं। उनके बचे-खुचे साथी उनके महान् साहस की चर्चा करते हुए अघाते नहीं। जम्मू और काश्मीर राज्य की सेनाओं के लोग देवता की

भांति उनकी पूजा करते हैं।

भारत सरकार ने उनको वीरता, धीरता, साहस, दृढ़ निश्चय एवं कर्त्तव्य-निष्ठा तथा श्रीनगर को आक्रांताओं से प्रतिरक्षित रखने के उपलक्ष में २५ फरवरी १९५० को मरणोपरांत "महावीर चक्र" के पारितोषिक द्वारा विभूषित किया।

२. अपूर्व साहस

मेजर सोमनाथ शर्मा—३ नवम्बर, १९४७ की बात है। प्रातः का समय। चारों ओर सन्नाटा था। काश्मीर की घाटी को प्राकृतिक वर्फीले आक्रमण से पूर्व पदाक्रांत कर लेने की हौंस से कवायली सभी दिशाओं में फैले हुए थे। इस शांत एवं गम्भीर वातावरण में भारतीय सेनाओं की टुकड़ियाँ जहाँ-तहाँ शत्रु का मुकावला करने में व्यस्त थीं। एकाएक समाचार मिला कि श्रीनगर और उसका हवाई अड्डा खतरे में है। शत्रु द्रुतगति से बढ़ा आ रहा है।

काश्मीर घाटी के अन्तर्गत वदगांम नामक ग्राम है। श्रीनगर के लिए सैनिक-दृष्टि से यह ग्राम विशेष महत्त्वपूर्ण स्थिति का था। इस स्थान पर मेजर सोमनाथ शर्मा अपनी कम्पनी के साथ नियत किये गए थे। एकाएक शत्रुओं की वृहद् संख्या ने उनकी कम्पनी की स्थिति पर आक्रमण कर दिया। कहा जाता है कि शत्रुओं की संख्या का अनुपात १ और ७ था। मेजर शर्मा की कम्पनी की संख्या इतनी कम होने के साथ ही तीन ओर से आक्रमण हो गया। तीनों दिशाओं से गोलियों की बौछार में मेजर शर्मा विचलित नहीं हुए—स्थिर रहे। ऐसी भीषण स्थिति मे वीर ही अडिग रह सकते हैं। मेजर शर्मा के साहस पर ही सारी कम्पनी के जीवन का आश्रय था। फलतः, उनके व्यक्तिगत साहस को देखकर प्रत्येक सैनिक अपने कर्त्तव्य के प्रति अडिग दिखाई देता। सब की मुख-श्री पर तेज और

पराक्रम के भाव झलकते थे।

शत्रु-आक्रमण होते ही शर्मा की कम्पनी ने उत्तर में गोलियाँ दागनी शुरू कीं। छः घंटे तक डटकर मुकावला हुआ। शत्रु की इतनी वड़ी संख्या जहाँ-की-तहाँ अटकी रही। एक कदम भी वह आगे नहीं वढ़ सका, कि इसी वीच मेजर शर्मा के लिए और सहायता आ पहुँची।

दोनों ओर से भीपण गोलीकांड और गोलावारी जारी था। मेजर शर्मा की एक वाँह पूर्वतः घायल थी। उस पर प्लास्टर चढ़ा हुआ था। प्लास्टर लगी वाँह को हिलाना कितना वड़ा खतरा है! किन्तु वीर लोग ऐसे घावों की चिन्ता ही कव करते हैं! शत्रु की त्रि-दिशी वौछार से उनका रक्त खौल उठा। पहले तो उन्होंने अपने वम-वर्पक वायुयानों के संकेत के लिए शत्रु-आक्रमण की दिशाओं को चिह्नित किया, और उसके उपरान्त जव उन्होंने देखा कि उनकी कम्पनी के आदमियों की संख्या कम हो रही है, तो वह स्वयं गोलियाँ और वारूद भरने पर जुट गए। इस प्रकार गोलियाँ और वारूद भर-भरकर वह अपने सैनिकों को उत्साहित कर रहे थे। उनके अदम्य उत्साह को देखकर उनके सैनिक द्विगुणित उत्साह से शत्रु का सामना कर रहे थे।

युद्ध के क्षेत्र में कव क्या हो सकता है, इसको कौन कह सकता है। वहाँ तो केवल कर्त्तव्य का ही वोलवाला होता है। कर्त्तव्य-पालन के अतिरिक्त कोई कुछ सोच भी नहीं सकता। यही दशा हमारे प्रस्तुत नायक मेजर शर्मा की है। जिस कर्त्तव्य-निष्ठा के वशीभूत होकर उन्होंने अपने तन की सुधि तक खो दी है, निश्चय ही वह कर्त्तव्य-निष्ठा उन्हें प्रत्यक्ष मृत्यु का आलिंगन करने से भी विमुख नहीं कर सकती। कर्त्तव्य-निष्ठा में जीवन और मरण का विवेक नहीं रह जाता। और तभी एकाएक मेजर शर्मा के वारूदखाने पर एक गोला

(मोर्टार) किया। थोड़ा विस्फोट होते ही कर्तव्य-निष्ठ शर्मा ब्रह्मलोक को छोड़ गए। उनका शरीर भले ही शत्रु ने नष्ट कर दिया था, किन्तु उनकी वीरता, साहस और उत्साह तो अमर हो गए हैं। उनकी कर्तव्य-निष्ठा की भावना सदा जगमगाती रहेगी।

मृत्यु से कुछ ही क्षण पूर्व उन्होंने अपने मुख्य कार्यालयों को निम्न संदेश भेजा था—"मैं एक इंच भी पीछे नहीं हटूंगा, प्राण रहते शत्रु के एक-एक आदमी से डटकर मुकाबला करूँगा।" भारतीय-सेना के इतिहास में अपूर्व वीरता एवं साहस के लिए मेजर शर्मा का नाम "स्वर्ण-अक्षरों" में लिखा जायगा। मां के दूध की लाज रखने वाले तो विरले ही होते हैं! प्रस्तुत युद्ध के समय मेजर सोमनाथ शर्मा कुमाऊँ रेजिमेंट के चतुर्थ सैन्यदल से संबंधित थे। २६ जनवरी १९५० को भारतीय गणतन्त्र की ओर से उन्हें भारत का उच्चतम सैनिक मान दिया गया, अर्थात्, मरणोपरांत "परम-वीर-चक्र"।

३. लांसनायक कर्मसिंह—"जाको राखे साइयां मार न सकिहैं कोय", अरे इतनी बम-वर्षा! केवल एक चौकी पर। चौकी थी तिथवाल के क्षेत्र में। गिने-चुने जवान और उनका अधिनायक लांसनायक कर्मसिंह। बम-वर्षा तक ही बात चुक जाती तो खैर थी। किन्तु उसके शीघ्र ही बाद आक्रमण। आक्रमण करने वालों की संख्या का अनुमान तो कीजिए। कहां एक और कहां दस। यही था अनुपात हमारे नायक कर्मसिंह के सैन्यदल और आक्रमणकारियों के बीच।

आक्रमण हुआ पूर्ण वेग के साथ। किन्तु हमारा दल इंच भर भी पीछे नहीं हटा। आक्रमणकारी बारम्बार बढ़े किन्तु हर बार उन्हें मुँह की खानी पड़ी। उन्हें लौटना पड़ा और हमारी सेना की टुकड़ी अपने स्थान पर अडिग—अचल बनी रही। मुकाबला संख्या का संख्या के साथ नहीं था; मुकाबला तो वीरता और साहस के

साथ वीरता और साहस का था। किन्तु जब कोई संख्या के बल पर वीरता और साहस का सामना करने निकलता है, तो स्वभावतः वह दुर्बल बन सकता है।

शत्रु के पाँव उखड़े, किन्तु हमारे नायक असावधान नहीं थे। वे जानते थे कि पीछे हटने वाले शत्रु से मुकाबला करते रहने वाले शत्रु की अपेक्षा अधिक सावधान रहना होता है। यह बात बिल्कुल ऐसी ही है कि सिंह के शिकार के समय, जब कभी सिंह के लिए अन्य कोई उपाय नहीं रहता, और वह आक्रांता पर आक्रमण की सोचता है, तो वह एकाएक दुबक-सा जाता है, और अपने अग्रभाग को पिछले टाँगों की दिशा में संकुचित कर लेता है। कच्चे शिकारी, बहुधा ऐसे समय मार खा जाते हैं। ठीक यही अवस्था पीछे हटने वाले शत्रु की होती है। और तब, थोड़े ही समय बाद दूसरा आक्रमण हुआ। कर्मसिंह की युद्ध-सामग्री का भी अन्त निकट था। गोली-बारूद की जो पूँजी उस समय थी, उसमें वृद्धि हो सकना असम्भव था। शत्रु की इस भयंकर गोलाबारी में सहायता भी आती तो कैसे ? तिस पर कर्मसिंह अपने एक साथी सहित घायल हो चुके थे। ऐसी असहाय दशा में भी कर्मसिंह ने अपने मस्तिष्क को स्थिर रखा। इस भीषण बमवर्षा की विद्यमानता में भी उन्होंने अपने साथियों को सचेत किया; मृत्यु से लोहा लेने की प्रेरणा की। कर्मसिंह बोले—"यह जीवन बारम्बार नहीं मिलता। कर दिखाने का यही अवसर है। जो करके दिखा देते हैं, संसार उन्हीं का लोहा मानता है। वही वीर होते है और संसार मे मृत्यु के उपरांत वीरों की सदा पूजा होती है, और होती रहेगी।"

मानो साथियों में नया जीवन आ गया। एक-एक शत्रु का सामना करने के लिए सब सामने आ गए। हथ-गोलों (ग्रेनेड) से युद्ध आरंभ

हुआ। आक्रमणकारी भी मारे गये थे। उनका उत्कट साहस—जैसे मृत्यु को खेल समझते हों, और इन्होंने एक और आक्रमण किया, मानों तूफान ही [illegible] कर दिया हो। दोनों की रक्षा करने वाली [illegible] टोलियों की सेनाएँ [illegible] नष्ट हो चुकी थी। खंदकों की यह अवस्था थी कि सब पट चली थीं। किन्तु भारतीय योद्धा ने निरुत्साहित होना तो सीखा ही नहीं। कर्मसिंह इस भीषण स्थिति में भी व्याकुल नहीं हुए, डटे रहे—जब-जब भी आक्रमणकारी आये तो उन्हें पीछे हटना पड़ा। कर्मसिंह स्वयं भी लड़ रहे थे, और इधर-उधर जा-जा कर घायल साथियों को प्रोत्साहन देते।

इस प्रकार, दोपहर तक शत्रु ने चार बार आक्रमण किया—हर बार एक-से-एक भयंकर आक्रमण हुआ। और इन चारों आक्रमणों में कर्मसिंह दो बार घायल हो चुके थे। किन्तु घावों की उन्हें चिन्ता नहीं थी।

इधर शत्रु ने भी ठान ली थी। उसकी संख्या बहुत थी। उसे निरंतर सहायता पहुँच रही थी। अब उसने पाचवां आक्रमण किया। इस आक्रमण का रूप तो मानो वास्तविक वीरता की परीक्षा थी। दो आक्रमणकारी ठीक कर्मसिंह की खदक के बाहर ही आ पहुँचे। उन पर छिपे-छिपे गोली चलाना भी कोई वीरता है? कदापि नहीं! भागते हुए शत्रु तक को मारना भारतीय वीर का अपमान है। और कर्मसिंह खंदक से बाहर आ गए। उन्होंने दोनों आक्रमणकारियों को पल भर मे संगीन से मौत के घाट उतार दिया।

इस पर भी शत्रु ने चैन नहीं लिया। उसने पाँच के बाद छठा, सातवाँ और आठवाँ आक्रमण किया। आठों बार के आक्रमणों में विजय का पाँसा हमारे वीर के पक्ष मे रहा। हर बार आक्रमण हुए विजय के लिए किन्तु शत्रु पराजित होता रहा। अपने उच्च-

सैनिक अधिकारियों के शब्दों में "वह अपने साथियों के लिए प्रेरणा-रूप थे और शत्रु के लिए आतंक।"

तिथवाल क्षेत्र में १३ अक्तूबर १९४८ की यह घटना हमारे सैनिक इतिहास की अपूर्व घटना है। इस असाधारण साहस एवं वीरता के उपलक्ष में सिख रैजिमेंट के प्रथम सैन्यदल से सम्बन्धित लांस-नायक कर्मसिह को भारतीय गणतंत्र की ओर से २६ जनवरी, १९५० को "परम-वीर-चक्र" के उच्चतम सैनिक मान द्वारा सम्मानित किया गया।

भारत की भावी संतति राष्ट्र और राष्ट्रीय झंडे के लिए जीवन-उत्सर्ग करने वाले ऐसे वीरों का सदैव स्मरण करती रहेगी।

४. धोबी रामचन्द्र

धोबी रामचन्द्र—साहस और वीरता तो मनुष्य-मात्र का आभूषण है। जो भी चाहे इस आभूषण को ग्रहण कर सकता है। केवल इसे ग्रहण करने की हौंस होनी चाहिए, साहस होना चाहिए। यह आभूषण किसी जाति-विशेष की बपौती नहीं। वीर-पिता का पुत्र कायर भी हो सकता है, और कायर-पिता का पुत्र वीर भी हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य के अंतस् में ये गुण विद्यमान तो होते हैं, किन्तु उन्हें सक्रिय रूप देना हर किसी की स्वेच्छा पर निर्भर होता है। किन्तु इतना अवश्य है कि ऐसे गुणों की सक्रिय अभिव्यक्ति के लिए समय एवं वातावरण की असंदिग्ध आवश्यकता होती है। और यह भी सत्य है कि अवसर पड़ने पर जो अपने मानसिक संतुलन को स्थिर रखते हैं, वही साहसी और वीर बन सकते हैं।

* * *

२९ जनवरी १९५१ को प्रातः समय दिल्ली छावनी में एक बड़ा भारी सैनिक समारोह होने जा रहा था। खूब चहल-पहल थी।

नियत समय पर भारतीय सेना के सेनापति, जनरल के० एम० करि-अप्पा पधारे। उपस्थित सेना ने उनका अभिनंदन करते हुए सम्मान प्रदर्शित किया। इसके बाद लेफ्टीनेंट कर्नल पिंटो एक असैनिक व्यक्ति के साथ अभिनंदन रंगमंच की ओर बढ़ रहे थे। यह असैनिक व्यक्ति बंद-गले का काला कोट पहने और सिर पर केसरी रंग की पगड़ी बांधे था। लें० पिंटो ने असैनिक व्यक्ति को नियत स्थान पर पहुंचा दिया। उपरांत, सेना-मुख्य-कार्यालयों के कर्नल वीरेन्द्रसिंह ने प्रस्तुत समारोह का उद्देश्य प्रकट करते हुए इस प्रकार कहा—

"१८ दिसम्बर १९४७ को एक रक्षा-दल जम्मू जा रहा था। उस रक्षा-दल के आफीसर कमांडर लेफ्टीनेंट एफ. डी. डब्ल्यू. फालन थे। रक्षा-दल बढ़ रहा था कि एकाएक भांबला में शत्रु के गुप्त आक्रमण का आभास हुआ। शत्रु ने पुल पर का सारा आभरण हटा दिया था और मार्ग रोकने की दृष्टि से गोलियाँ दाग रहा था। कमांडर आफीसर की मोटर रुकी और उन्होंने एक असैनिक व्यक्ति की सहायता से पुल के आभरण को पाटा। इस बीच गोलियाँ निरन्तर दागी जा रही थी। मि. फालन उस असैनिक व्यक्ति की सहायता से पुल को पाट रहे थे।

एकाएक आफीसर कमांडिंग के गोली लगी और वह घायल हो गए। अफसर के शरीर से रक्त प्रवाहित हो रहा था। उस असैनिक व्यक्ति ने ऐसे आपत्तिकाल में कमाल का साहस दिखाया। उसने मि. फालन की बन्दूक को अपने हाथों में ले लिया और लगा दागने गोलियाँ। वह तब तक गोलियाँ चलाता रहा जब तक कि मोटर पुल न पार कर गई। उस असैनिक व्यक्ति ने शत्रु के ६ जवानों को मौत के घाट उतारा।

निरन्तर रक्त-प्रवाह के कारण अफसर को मोटर छोड़नी

पड़ी और फलस्वरूप वह उस असैनिक व्यक्ति सहित अन्यों से एकाकी रह गया। अफसर महोदय मृत-प्राय दशा में थे। असैनिक व्यक्ति उस खतरे के समय चाहता तो भाग खड़ा होता किन्तु कर्त्तव्य की भावना ने उसे स्थिर बनाये रखा। उसने उस स्थान के निकट चौकी तक उन्हें पहुँचने में सहायता दी। यह चौकी लगभग आठ मील के अन्तर पर थी। आफीसर ने बहुतेरा चाहा कि वह असैनिक व्यक्ति अपने को इस भीषण स्थिति में न डाले, किन्तु उसने इंकार किया। वह निरन्तर आगे जा-जा कर देख आता कि मार्ग आगे निर्द्वन्द्व है, अर्थात् वह खोजी का काम करता रहा। उस असैनिक व्यक्ति का यह साहस असाधारण था। गोलियों की बौछार में भी जिसने अपने मानसिक संतुलन को नष्ट नहीं होने दिया, वह निश्चय ही किसी भी प्रशिक्षित सैनिक से कम नहीं था।

और आप लोगों को यह जान कर महान् प्रसन्नता होगी कि वह असैनिक व्यक्ति यही हैं—रामचन्द्र (धोबी)।"

इस विवरण की समाप्ति पर उपस्थित सेना ने सम्मान-प्रदर्शन में अभिवादन किया, सैनिक वाद्य ने दिशाओं को गुँजा दिया। और इस साहस एवं धैर्य के उपलक्ष में भारतीय गणतन्त्र की ओर से भारतीय सेना के सेनापति जनरल करिअप्पा ने रामचन्द्र को "महावीर चक्र" से अलंकृत किया। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र को ५०० रु० की नकद भेंट भी की गयी। समारोह की समाप्ति पर सैनिक तथा असैनिक दर्शकों—दोनों ने संयुक्त रूप में रामचन्द्र को बधाई दी और उपस्थित लोगों की भीड़ ने उसे कंधों पर उठा-उठा उल्लास प्रकट किया। रामचन्द्र रावलपिंडी के अधिवासी थे और विभाजन से पूर्व वहाँ लाँड़ी का कार्य करते थे और विभाजन उपरान्त वह परिवार सहित जालंधर में आ बसे थे। इस समारोह के अवसर पर एक अन्य

अधेड़ वय का पुरुष दूर खड़ा यह सब देख रहा था। उसकी आँखें प्रसन्नता के आवेग से छलछला रही थीं और उसकी मुख-श्री इस कृत्य को देख-देख चमत्कृत हो-हो जाती थी। यह पुरुष थे रामचन्द्र के पिता, जिन्होंने भर्राए स्वर में केवल इतने ही शब्द कहे थे "तूने मेरा नाम रोशन कर दिया—शाबाश !!"

५. नायक जदुनाथ सिंह

नायक जदुनाथसिंह—१९४२ के महान् आन्दोलन का श्रीगणेश राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के इन शब्दों के साथ हुआ—"करो या मरो!" इस मूल-मंत्र ने भारतीयों को कर्त्तव्य-निष्ठ होना सिखाया; जीवन तो नाशवान है किंतु 'करना' नश्वर नहीं। मरना तो है ही, फिर 'कर' के क्यों न मरा जाय। इसी "करो या मरो" के मूल-मंत्र के आधार पर संसार ने अपनी आँखों देखा है कि भारत ने किस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की। संसार के सभी क्षेत्रों मे यह मूल-मंत्र सफल होता है। इसका जीवित उदाहरण काश्मीर-घाटी का युद्ध है। इतने विस्तृत क्षेत्र मे से शत्रुओं को निकाल बाहर करना कुछ सहज काम नहीं था। यदि देश के रण-बाँकुरे "करो या मरो" की धारणा से न बढ़ते, तो संसार भर में सुन्दरतम काश्मीर-घाटी से शत्रुओं को खदेड़ना कठिन हो जाता।

घटना बहुत पुरानी भी नही। फरवरी १९४८ की ही तो है। नौशहरा की प्रतिरक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु प्रतिरक्षकों के मुकाबले में आक्रमणकारियों की संख्या कई गुना थी। भला थोड़े से वीर नगर की क्योंकर रक्षा करेंगे, यही समस्या सब के सामने थी। नायक जदुनाथसिंह के आदेश में एक छोटा-सा अग्रणी दल था। और शत्रु की संख्या ५०० से अधिक थी।

शत्रु ने बहुतेरी चेष्टा की कि प्रतिरक्षा-पंक्ति को भंग कर दे।

उसने रह-रह कर पूर्ण वेग के साथ आक्रमण किया, उसने बार-बार संख्या के आधार पर आक्रमणकारी लहर से प्रतिरक्षा की सुदृढ़ चट्टान को भंग करना चाहा किन्तु प्रतिरक्षा की वह चट्टान हिमालय बनकर शत्रु को पीछे ढकेल देती थी। शत्रु को ऐसा लगा कि ये चट्टान मीलों-मील फैली हुई है। वह यह नहीं जान सका कि अँगुलियों पर गिने जा सकने वाले भारतीयों ने हिमालय सदृश भीमकाय चट्टान का रूप धारण कर लिया है।

जदुनाथ ने इस अवसर पर अपूर्व चातुर्य का परिचय दिया। उन्होंने अपनी छोटी-सी टुकड़ी को इस ढंग से फैला दिया था कि मानों हजारों सैनिक पहाड़ी-खंदकों में फैले हुए हैं। उनकी गोलियों की बौछार से शत्रु-सेना के पाँव उखड़-उखड़ जाते थे। और अन्ततः शत्रु का दम टूट गया। उसके पाँव उखड़ गए। उसमें टक्कर लेने का साहस न रहा तो भगदड़-सी मची। मानो उनकी हर गोली टकरा-टकरा उन्हीं को लगने लगी।

शत्रु के पाँव तो उखड़े, किन्तु इसी बीच जदुनाथ और भी सतर्क हो गए। उन्होंने साथियों को एक बार पुनः अनुप्राणित किया। इतनी थोड़ी संख्या और उनमें से भी कई घायल हो चुके थे। कइयों को वीर-गति भी प्राप्त हो चुकी थी। सिंह-समान जदुनाथ की आँखों से मानो शक्ति का प्रवाह हो रहा था। उनके साथियों में "करो या मरो" का मंत्र सक्रिय रूप धारण कर चुका था। और इसी बीच शत्रु ने एक अन्य विफल आक्रमण किया। आक्रमणकारी आश्चर्य में थे कि प्रतिरक्षा पंक्ति की यह चट्टान इतनी दुर्भेद्य क्यों है? किन्तु प्राण रहते यह पंक्ति भंग नहीं हो सकती, यह दुर्भेद्य ही बनी रहेगी।

इधर वीर जदुनाथ के सब साथी काम आ चुके थे। कोई घायल, कोई भयंकर घावों के कारण अशक्त और कोई कर्त्तव्य-पालन के लिए

मर-मिटे थे। अब जदुनाथ एकाकी थे। अरे एकाकी नहीं "सवा लाख थे, सवा लाख!" जदुनाथ को लगा कि उनके शरीर में "सवा लाख" आदमियों की शक्ति का संचार हो गया है। जिसका शरीर घायल हो, जिसके साथियों की दशा यह हो चुकी हो; उसके रक्षक तो भगवान हैं। वही उसे शक्ति प्रदान करते हैं।

आक्रमणकारियों की संख्या बढ़ चुकी थी। उन्होंने संख्या के बल पर इस दुर्भेद्य प्राचीर को भंग करना चाहा। उन्होंने सर्वस्व झोंककर आक्रमण किया। यह उनकी अन्तिम बाजी थी। काश, वे जान जाते कि वह दुर्भेद्य-प्राचीर हिमालय के समान महान् नहीं, प्रत्युत उन्ही जैसा एक मानव शरीर-मात्र है, तो वह स्वतः ही अपनी संख्या-शक्ति पर लज्जित हुए बिना न रहते……।

शत्रु के भीषण आक्रमण का सामना करने के लिए जदुनाथ ने आव देखा न ताव; निकल आये खंदक से बाहर। हाथों मे स्टेनगन थी। हृदय में "करो या मरो" का मंत्र था। शत्रु-प्रतिरक्षा पंक्ति से केवल १५ गज के अंतर पर था। इतनी वीरता! इतना साहस! एकाकी जूझने निकला मतवाला जदुनाथ! जदुनाथ ने तो गोलियों की बौछार कर दी। प्रलय मचा दी अकेले जदुनाथ ने। भला वीरों की पराजय हो सकती है? कदापि नही। इस प्रलयकारी गोली-कांड से शत्रु की इतनी बड़ी संख्या के पाँव उखड़ गए। शत्रु की खंदकों में भगदड़ मची। वह भाग रहा था—गीदड़ों की भाँति। सिह जदुनाथ का शरीर घावों से छलनी हो चुका था। रुधिर बह रहा था। किन्तु स्टेनगन (एक प्रकार की स्व-चालित बन्दूक) चल रही थी। तभी अचानक एक गोली लगी जदुनाथ के सिर मे मानो उनकी दुर्भेद्य प्राचीर उनका मस्तिष्क था। और मस्तिष्क छिन्न-भिन्न होते ही जदुनाथ का स्थूल शरीर धराशायी हो गया। उनकी निष्प्राण आँखें भागते शत्रु की

पीठ देखकर अन्दर-अन्दर ही उल्लसित हो मुँद गई। वह प्रतिरक्षा पंक्ति हिमालय के समान अभेद्य बनी रह गई। नौशहरा का नगर वीरों के रक्त की बूंद-बूंद से सुरक्षित बना रहा।

उत्तर-प्रदेश के जिला शाहजहाँपुर अन्तर्गत खजूरी गाँव की पुनीत धूल द्वारा परिपोषित नायक जदुनाथसिंह को भारतीय गणतन्त्र की ओर से १८ दिसम्बर १९५० को असाधारण वीरता और साहस प्रदर्शित करने के उपलक्ष में मरणोपरान्त "परम-वीर-चक्र' द्वारा सम्मानित किया गया। सैनिक सम्मान की दृष्टि से भारतीय गणतंत्र राज्य का यह उच्चतम मान है।

६. हवाई कॉमॉडोर मेहरसिंह

हवाई कॉमॉडोर मेहरसिंह—जम्मू-काश्मीर के युद्ध में केवल थल-सेनाओं ने ही अपूर्व वीरता एवं साहस का परिचय नहीं दिया, प्रत्युत नभ-सेना, अर्थात् हवाई सैनिकों ने भी अपने पराक्रम दिखलाये हैं। कहा जाता है कि इस युद्ध का आयोजन तो भारत-विभाजन से पूर्व ही हो चुका था, क्योंकि इतने थोड़े काल में लगभग ५-६ सौ मील के सीमान्त पर एकाएक इतने सशस्त्र व्यक्तियों का फैल जाना सहज बात न थी। दूसरी ओर, इस पूर्व-आयोजित आक्रमण को शान्त करने के लिए भारतीय सेनाएँ आक्रमण के बाद पहुँच सकी थीं।

जो भी हो, जम्मू-काश्मीर के युद्ध में हमारी थल और नभ की सेनाओं ने अपूर्व आत्म-त्याग, वीरता और साहस का परिचय दिया है। हवाई कॉमॉडोर मेहरसिंह ही सबसे प्रथम हवाई-सैनिक थे, जो टेढे-मेढ़े पूंछ नगर में सबसे पहले पहुँचे थे। हिमालय के अखोजे-मार्गों से होते हुए उन्होंने इस सीमान्त पर अनेक हवाई आक्रमण किए थे। यदि मेहरसिंह न पहुँचे होते तो संभवतः पूंछ का अन्त ही हो जाता। इसके अतिरिक्त उन्होंने पूंछ के लगभग ३० हजार से अधिक विस्था-

पितों को सुरक्षित स्थानों मे पहुँचाया था।

कुछ मास बाद वह लद्दाख की ओर बढ़े। प्रायः अधिक ऊँचाई में उड़ने के लिए विशेष प्रबन्ध करने होते है। किन्तु इन प्रबन्धों की उस समय भारतीय वीरों को सुध कहा थी। वह तो सिर पर कफन बाँध कर निकले थे। आक्रमणकारियों की अवस्था यह थी कि वह गिलगित लद्दाख के क्षेत्र मे फैल चुके थे। उनकी इच्छा मैदानी मार्ग के साथ-ही-साथ पार्वत्य-प्रदेश को अधिकृत करके काश्मीर घाटी को निगल जाने की थी। ऐसी इच्छा की पूर्ति हमारे वीरों के अभाव में ही हो सकती थी, किन्तु जब वे मैदान मे उतर चुके थे, तो आक्रमणकारियों की दाल गलनी असम्भव थी।

लेह लद्दाख का मुख्य स्थान है। यह स्थान १२ से १६ हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित है। लेह के हवाई अड्डे विश्व भर में समुद्र-तल से ऊँचे है। मेहरसिंह हस्तगत साधनों को पर्याप्त समझ कर लेह के हवाई अड्डे पर पहुँच गए। इस स्थान से उन्होंने काश्मीर घाटी में हवाई अक्रमणों का एक ऐसा क्रम बाँध दिया कि निर्बाध गति से बढ़ते हुए शत्रु का मार्ग, न केवल अवरुद्ध हो गया, बल्कि उसकी आशाओं पर ही पानी फिर गया। मेहरसिंह ने इस कार्यवाही के काल में जीवन को जैसे खेल समझ लिया था। यही नहीं कि उन्होंने केवल हवाई-आक्रमण ही किये, प्रत्युत अनेक ऐसे कार्य भी किये, जिनका उन पर दायित्व नही था। उन्होंने अपने साथियों को यह दिखा दिया कि मनुष्य साहस के बल पर वह सब-कुछ करके दिखा सकता है कि जिसे 'असंभव' कहा जाता है। उदाहरण के लिए, यदि ऊँची उड़ान के लिए प्रबन्धों की चिन्ता की जाती, तो शत्रु कहीं-का-कही पहुँच जाता। इस प्रकार पूँछ का भी उदाहरण दिया जा सकता है कि जहाँ से उन्होंने ३० हजार विस्थापितों को सुरक्षित

स्थानों पर पहुँचाया।

कॉमॉडोर मेहरसिंह ने क्रानवैल से चालक प्रशिक्षण प्राप्त किया था और उपरान्त अप्रैल १९३५ में नं० १ इंडियन एयर फोर्स (भारतीय हवाई सेना) में अफसर नियुक्त हुए। आरम्भ काल से ही मेहरसिंह उच्चाधिकारियों के कृपापात्र वन गए थे। उनकी असाधारण योग्यता एवं कार्यकुशलता से सभी अधिकारी उन्हें चाहने लगे।

उन्होंने अविभाजित भारत के उत्तर-पश्चिमी-सीमान्त में हवाई आक्रमणों और उपरान्त १९४२ में हठवानिया तथा वर्मा के प्रदेशों में विखरे स्त्री-वच्चों को एकत्रित करने में जो हवाई कार्यवाहियाँ प्रदर्शित की थीं, उनके कारण वह अपने अधिकारियों एवं साथियों के समान स्नेह-पात्र वन गए थे।

इसके अतिरिक्त, अराकान में मेहरसिंह ने जिस नेतृत्व तथा कर्त्तव्य-परायणता द्वारा सफल हवाई कार्यवाहियाँ की थीं, उनके फलस्वरूप उन्हें डी. एस. ओ. के मान से सम्मानित किया गया था। इंडियन एयर फोर्स में एकमात्र यही अफसर थे कि जिन्हें यह सम्मानित पद मिला था। इससे भी अधिक यह, कि विभाजन-पूर्वकाल में मेहरसिंह तथा उनके अधीनस्थ चालकों के दल ने न रात देखी, न दिन देखा। वह थे, और उनके हवाई जहाज। मेहरसिंह की अध्यक्षता में इस दल ने पश्चिमी पंजाव के अरक्षित क्षेत्रों से हजारों विस्थापितों को निकाला और जिन लोगों तक वह पहुँच नहीं सकते थे, उन्हें अन्न और वस्त्र पहुँचाने के यत्न किये।

गत सितम्वर १९४८ में, निरन्तर १४ वर्ष हवाई-सेना में संलग्नतापूर्वक कर्त्तव्य-पालन के उपरान्त मेहरसिंह ने स्वेच्छापूर्वक मुक्त होने का आवेदन किया। उनकी सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए भारतीय गणतन्त्र ने १ फरवरी १९५० को "महावीर-चक्र" का सम्मान देते हुए अवकाश प्रदान कर दिया।

७. सूबेदार स्वंग रिन्चन

सूबेदार स्वंग रिन्चन—काश्मीर घाटी पर आक्रमण के साथ-ही-साथ पाकिस्तानी तथा कबायली गिलगित और लद्दाख में भी फैल गए थे। इस अवसर पर जम्मू-काश्मीर सरकार की ओर से रक्षादल संगठित किये गए। जम्मू-काश्मीर के इन रक्षा-दलों ने विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सैनिक कार्यवाहियाँ कीं।

आरम्भिक-काल में रक्षा-दलों के लिए सरकार ने गिलगित-लद्दाख और काश्मीर में अपने प्रदेश की रक्षा-हित जन-जन को सम्मिलित होने की प्रेरणा की। सरकार की इस प्रेरणा का फल यह हुआ कि सर्वत्र रक्षा-दल बन गए। गाँवों में स्त्रियाँ और बच्चे भी रक्षा-दल से सम्बन्धित कुछ-न-कुछ कार्य करते थे। शत्रु-कार्यवाहियों तथा शत्रु-शिविरों का जहाँ-तहाँ पता लगाना इसी रक्षा-दल का कार्य था। एका-एक यह आन्दोलन गिलगित-लद्दाख में भी पहुँच गया। स्कूलों में पढ़ने वाले लड़कों ने स्कूल छोड़ दिये। अनेक युवक घरेलू कार्यों को जहाँ का तहाँ छोड़कर रक्षा-दलों में सम्मिलित होने लगे। हमारी कथा का अधिनायक रिन्चन भी स्कूल में पढ़ता था। उम्र कठिनाई से उन्नीस बरस होगी। कबायलियों द्वारा पदाक्रांत होती हुई मातृ-भूमि को मुक्त करने की उत्कट अभिलाषा जाग्रत हो उठी। रिन्चन स्कूल छोड़कर जम्मू और काश्मीर रक्षा-दल मे भरती हो गया। शत्रु से लोहा लेने की हौंस थी।

अगस्त १६४८ में नुबरा घाटी में आक्रमणकारी बाढ़ की तरह बढ़े आ रहे थे। उन्होंने घाटी को विजित कर लेने के लिए अपना सर्वस्व झोंक दिया था। किन्तु जैसे विशाल चट्टान मार्ग में पड़ गई हो। लगातार तेईस दिन तक संघर्ष जारी रहा किन्तु शत्रु को नुबरा घाटी का आभास तक न हो पाया। और यह सुदृढ़ चट्टान

थी रिन्चन के नेतृत्व में असधे १८ लद्दाखी जवानों की। रिन्चन ने देखा कि कबायली रोके से नही रुकते, तो उसने १८ असधे लद्दाखी युवकों को साथ लिया। सब ने प्रण किया कि जान रहते शत्रु को एक इंच भी आगे नहीं बढ़ने देंगे। फलतः, उन्होंने घाटी के प्रवेश-मार्ग खारू नुले पर मोर्चा गाड़ दिया। निरन्तर २३ दिन की मुठभेड़ के बाद शत्रु को पीठ दिखानी पड़ी। रिन्चन और उसके साथियों का साहस सहस्त्र गुना बढ़ गया।

उपरान्त सितम्बर, १९४८ में, रिन्चन को आदेश मिला कि वह १७ हजार फुट की ऊँचाई पर के एक स्थान से आक्रमणकारियों को खदेड़े। कितना भीषण दायित्व था! एक ओर रिन्चन स्कूल का छात्र और दूसरी ओर ये युद्ध की जटिलताएँ। दोनों में कितनी असमानता है। किन्तु जिनके दिल में लगी होती है, वह इस असमानता को अपने मस्तिष्क में आने तक नहीं देते। इतना संकटमय मार्ग और बर्फ-ही-बर्फ। रिन्चन और उसके साथी बढ़े और बढ़े ही चले गये, आक्रमणकारी एक लामा हाऊस (लामा आवास) में अवस्थित थे। रिन्चन ने एकाएक आक्रमण कर दिया। शत्रु को जान बचानी मुश्किल हो गई। शत्रु के बहुत से आदमी काम आये और रिन्चन के सैन्य-दल ने निर्दिष्ट स्थान पर अधिकार कर लिया। इस विजय के उपरान्त तो रिन्चन को लगा, जैसे विजय पाना उसके बाएँ हाथ का खेल है।

तदनुसार, दिसम्बर १९४८ में रिन्चन को आदेश मिला कि बियगडांडो के निकट एक वृहद् ऊँची चौकी पर अधिकार करे और आक्रमणकारियों को वहाँ से मार भगाए। सारा मार्ग बर्फ से आच्छादित था। या खुदा यह कैसी परीक्षा थो, किन्तु रिन्चन को ऐसी बातों के विषय में जैसे सोचना ही नहीं आता था। रिन्चन ने तो नैपो-

लियन की भांति बढ़ना सीखा था। अनेक-अनेक बर्फीले मार्गों को लांघता हुआ रिन्चन अपने साथियों सहित निर्दिष्ट स्थान पर जा पहुँचा, और उसने आक्रमण कर दिया।

अन्ततः, दिसम्बर मास के तीसरे सप्ताह मे २३ हजार फुट की ऊँचाई पर सैनिक कार्यवाही करने के पश्चात् रिन्चन अपने लक्ष्य पर जा पहुँचा। यह स्थान लेह तहसील मे सबसे अंतिम था कि जहाँ शत्रुओं ने डेरा डाल रखा था। इस २३ हजार फुट की ऊँचाई की कार्यवाही मे उसके सैन्य-दल के आधे लोग शीताधिक्य से घायल हो चुके थे। किन्तु उसे तो शत्रुओं को मातृ-देश से हटाने का दायित्व सौंपा गया था। लेह तहसील के उक्त स्थान पर पहुँचकर रिन्चन के सैन्य-दल ने शत्रुओं की पंक्ति के पृष्ठ की ओर चार मील हटकर मोर्चा लगाया। रिन्चन ने आक्रमण किया और दो मुहासरों पर अधिकार कर लिया। रिन्चन ने अपने दायित्व को निभाकर दिखा दिया कि वीरता और साहस के बल पर क्या कुछ किया जा सकता है।

अल्पायु रिन्चन की असाधारण योग्यता, संगठन-शक्ति और नेतृत्व हर किसी के लिए आदर्श है। उन्होने जिन प्रतिकूल अवस्थाओं मे उक्त सफल कार्यवाहियाँ की है, उनसे रिन्चन की वीरता का सहज पता हो जाता है। इस वीरता-प्रदर्शन के सम्मान मे श्वंग रिन्चन (अब सूबेदार) को भारतीय गणतन्त्र ने २४ जुलाई १९५२ को "महावीर-चक्र" द्वारा सम्मानित किया।

साहस

इजरायल—युवकों का देश

क्या आप विश्वास करेंगे कि कुछ साहसी नवयुवकों ने, जिनका अपना कोई घर-बार नहीं था और जो संसार के विभिन्न भागों में भटकते फिरते थे, अनवरत संघर्ष करके एक नये राष्ट्र का निर्माण कर लिया है? आपने अनुभव किया हो या नहीं, किन्तु आप ही की आंखों के सामने की यह घटना है। मुट्ठी भर युवकों ने अपनी जान की बाजी लगाकर—एक ऐसे देश का निर्माण किया है, जिसका मध्यपूर्व के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान सुनिश्चित है। ऐसे जीवट, लगन और साहस के उदाहरण संसार में बहुत कम उपलब्ध हैं। यह नव-निर्मित देश है—इजरायल, और इस देश के निर्माता हैं यहूदी युवक और युवतियाँ।

मई, १९४८ में फिलस्तीन के कुछ भागों को लेकर इन यहूदी युवकों ने इजरायल को जन्म दिया है, और यह प्रमाणित कर दिया है कि नये रक्त में नये राष्ट्र को जन्म देने तक की क्षमता होती है।

फिलस्तीन इससे पूर्व भी यहूदियों का देश था। कहते हैं कि उस काल में भारत की भाँति ही यहाँ भी दूध और मधु की नदियाँ बहती थीं। उस समय फिलस्तीन उन्नति के पथ पर था। वहाँ के निवासी यहूदी उद्योगी थे और कानून तथा अनुशासन का कट्टरता के साथ पालन करते थे। परन्तु रोम के आक्रमण से फिलस्तीन राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। अधिकांश निवासी अपना देश छोड़कर अन्यत्र जा बसे। इधर तो फिलस्तीन वीरान हो गया और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के कर्णधारों ने अपने ही देश में यहूदियों के प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी। फलस्वरूप यहूदी वर्षों तक आजीविका रहित एवं बेघर होकर जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते रहे।

किन्तु आज वह वीरान हुआ फिलस्तीन पुनः बस रहा है। बेघर यहूदी आज मारे-मारे नहीं फिर रहे हैं। आज तो वे इजरायल के नव-निर्माण में तन-मन-धन से लगे हुए हैं। मध्यपूर्व में इजरायल की ओर विश्व भर की आँखें गड़ी हुई हैं। वहाँ प्रगति, संगठन और विकास के नाम पर नारे नहीं लगाये जाते। वहाँ के साहसी युवक और युवतियाँ ठोस रचनात्मक कार्यों में संलग्न हैं। सामाजिक और आर्थिक उन्नति उनका एकमात्र लक्ष्य है।

वर्तमान में इजरायल की जनसंख्या लगभग १३ लाख है। और सरकारी योजना के अनुसार आगामी २० वर्षों में यहाँ की जनसंख्या तीन गुना हो जायगी। सरकार जनसंख्या की वृद्धि के लिए विशेष रूप से यत्नशील है, किन्तु उसके मुकाबले में भारत है कि जहाँ जनसंख्या के आधिक्य की समस्या से सरकार चिन्तित है। इतना विशाल एवं साधन-सम्पन्न होते हुए भी भारत में जनसंख्या के आधिक्य की समस्या का कारण यह है कि यहाँ उद्योग एवं व्यवसायों का अभाव है। अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है किन्तु कृषि द्वारा पूरे वर्ष भर काम नहीं मिलता। इसलिए बेकारी है। किन्तु संतोष की बात है कि भारत सरकार अपनी पंचवर्षीय योजना द्वारा इस समस्या को हल करने के लिए कटिबद्ध हो गई है।

इजरायल सरकार का अनुमान है कि इस नव-निर्मित प्रदेश में तीस लाख की जनसंख्या सुखपूर्वक निर्वाह कर सकेगी। कई विद्वान इस बात को असम्भव बतलाते हैं, किन्तु यहूदी इसे प्रमाणित कर दिखाना चाहते है, क्योंकि किसी भी राष्ट्र के अवलम्ब हैं युवक। युवक तो पहाड़ से भी टक्कर लेने की हौस रखते हैं। इसलिए यहूदी-युवक प्रत्येक सम्भव उपाय का प्रयोग कर रहे है। मरुभूमियों को संतरों, खेतों और आवास-स्थानों में परिवर्तित किया जा रहा है। इस प्रदेश

में समतल उपजाऊ भूमि का अधिकांशतः अभाव है, और मरुभूमियों तथा पहाड़ी प्रदेशों की अधिकता है। किन्तु यहूदी युवक और युवतियों के उत्साह के बल पर अधिकारियों को विश्वास है कि मरुभूमियों और पहाड़ी क्षेत्रों को कृषि एवं आवास के योग्य बनाने में कोई भी शक्ति उन्हें पराजित नहीं कर सकेगी।

जनसंख्या में वृद्धि के कारण खाद्य-समस्या उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। भारत और इजरायल की खाद्य-समस्या, प्रायः एक जैसी है। दोनों ही देशों में खाद्य विषयक आत्म-निर्भरता की आवश्यकता है। भूमि का अभाव दोनों देशों में नही है। अतएव, कृषि-उत्पादन की वृद्धि द्वारा खाद्य-समस्या का निराकरण करने की चेष्टा की जा रही है।

इजरायल का सम्पूर्ण क्षेत्रफल ५५ लाख एकड़ है। इसमें से १५ लाख एकड़ भूमि कृषि-योग्य है किन्तु केवल ७ लाख एकड़ पर कृषि हो रही है। शेष ८ लाख एकड़ भूमि को भी कृषि-कार्य में नियोजित करने की दिशा में कार्य हो रहा है। अधिक खाद्यान्न उपजा कर इजरायल का विचार है कि खाद्य विषयक आयातों को कम किया जाय। और दूसरी ओर निर्मित एवं कच्चे पदार्थो के निर्यात में वृद्धि की दिशा में भी चेष्टाएँ हो रही है। हाल ही में कुछ योजना-आयोग प्रकाशित हुए हैं, जिनके अध्ययन से सहज ज्ञान हो जाता है कि इजरायल संतरों, सब्जियों तथा फूलों का वृहद मात्रा में निर्यात करने योग्य हो जायगा।

इजरायल का कृषि सचिवालय सिचाई विषयक योजनाओं पर भी ध्यान दे रहा है। यहाँ आकर बसने वाले युवकों को कृषि-कार्य की विशेष रूप से शिक्षा दी जा रही है। केवल अढ़ाई वर्ष के अन्दर-अन्दर ऐसे सवा लाख युवकों को कृषि-कार्य की शिक्षा दी जा चुकी

है। अतः विश्वास किया जाता है कि युवकों के वल पर उत्पादन-वृद्धि शीघ्र ही हो जायगी।

दक्षिणी मरु-भूमि क्षेत्र नेगेव में ५ लाख एकड़ भूमि अपर्याप्त वर्षा के अभाव में वेकार पड़ी है। हमारे भारत देश की भाँति जनता सरकार पर ही केवल-मात्र निर्भर नहीं है। इजरायल को युवकों का देश इसी कारण कहा जाता है कि वहाँ के युवक और युवतियाँ देश-निर्माण के कार्यों में अग्रणी हैं। वे राष्ट्र और देश के हित में कार्य करने के लिए सरकार पर आश्रित रहकर निठल्ले नहीं बनना चाहते। सरकार तो काम करने वालों को आश्रय दे सकती है। जनता को वाध्य करके कोई भी जनतन्त्री सरकार कार्य नहीं करती। स्वतः जनता का यह कर्त्तव्य है कि वह नव-निर्माण के कार्य अनुशासन के अन्तर्गत करे।

नेगेव जैसे मरु-स्थल को समृद्धिशाली बनाने का दृढ़ संकल्प उन अगणित युवा-युवतियों ने स्वेच्छापूर्वक कर रखा है कि जिन्होंने अनंत-अनंत कष्ट सहन करते हुए इस नव-राष्ट्र को प्रस्फुटित किया है। समस्त इजरायल के क्लवों, थियेटरों एवं परिवारों में नेगेव के सम्वन्ध में सैंकड़ों गीत प्रचलित हैं। देखिये एक गीत का भाव :

सुना तुमने ?
आ रही पुकार—
नेगेव के चप्पे-चप्पे से !
पानी······पानी······
दीर्घकाल के प्यासे हम······
प्यास वुझाओगे क्या तुम ?
पानी······पानी······
ओ धरती के चप्पे चप्पे !

हम तुझे पिलायेंगे !
तुम्हें प्राप्त करने को हम थे……
लालायित, अब प्राप्त हुए हो।
हम पिलायेंगे तुम को पानी—
पानी……पानी……

इजरायल के युवक-युवतियाँ ऐसे-ऐसे सैकड़ों गीत गाते हैं। इन गीतों से जैसे उनमें प्राणों का संचार हो जाता है।

इन युवक-युवतियां के अथक प्रयासों के फलस्वरूप यहाँ सहकारिता प्रणाली को खूब सफलता मिल रही है। यहूदी भाषा में इसे "किब्बुज प्रणाली" कहते है। किब्बुज प्रणाली कृषि और उद्योगों का संरक्षण करती है। किब्बुज के सब सदस्य मिल-जुल कर कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में इसे सामूहिक श्रम या कृषि-प्रणाली कहते है। जो लाभ होता है, सब सदस्यों में समान बाँटा जाता है। किब्बुज का प्रत्येक सदस्य काम करने को उद्यत रहता है। उसमें नौकर और मालिक कोई भी नही होता।

इजरायल मे उद्योग और व्यवसायों की सब भाँति उन्नति की जा रही है। कागज, लोहा, लकड़ी तथा औषधि-निर्माण के उद्योग चालू हो गए हैं।

इजरायल को शिक्षा की दिशा में भी उन्नत किया जा रहा है। १९४९ में अनिवार्य-शिक्षा का नियम स्वीकार किया गया था। ५ से १८ वर्ष के बालकों तथा युवा-युवतियों को अनिवार्यतः शिक्षा प्राप्त करनी होगी। गत दो वर्षो के अन्दर-अन्दर शिक्षा-संस्थाओं की संख्या दोगुना हो गई है। दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। इन स्कूलों में वृक्षारोपण, बढ़ईगिरी, कृषि, चित्रकारी, लोहारी आदि की

भी शिक्षा दी जाती है।

जन-स्वास्थ्य की दिशा में भी सरकार ने पर्याप्त कार्य किया है। यहाँ मलेरिया का बहुत प्रकोप था और अब मलेरियानाशक औषधियों का प्रयोग किया जा रहा है। पूर्व की अपेक्षा मलेरिया का प्रभाव कम हो गया है। सफाई के कामों में नागरिक पूर्ण योग प्रदान करते हैं। निःशुल्क चिकित्सा के भी प्रबन्ध किये गए हैं।

इस चार वर्ष की अल्पावधि में इजरायल सरकार ने जो प्रशंसनीय प्रगति और नव-निर्माण का कार्य किया है, उसका सम्पूर्ण श्रेय यहूदी युवक-युवतियों को है। यदि युवक और युवतियाँ इस निर्माण-कार्य की अनेकानेक कठिनाइयों को हँसते-हँसते सफलतापूर्वक पार न कर लेते तो यह निर्माण-कार्य असम्भव था। उन्हीं की सुदृढ़ शक्ति, निश्चय एवं साहस का यह परिणाम है कि बड़ी-से-बड़ी बाधाएँ बालू की भित्ति के समान धराशायी हो गई है, और सफलता ज्योति बनकर चमत्कृत हो उठी है। प्रस्तुत निर्माण-कार्य विश्व भर में आदर्श उदाहरण बन कर रहेगा।

ग्यारह दिन में चौदह हजार मील

आधुनिक युग यंत्र-युग कहलाता है। मानव ने यंत्र-युग के सहारे असंभव से असंभव कार्यों को सहज सम्भव बना दिया है। मानव की समस्त शक्ति और गति का आधार यंत्र है। यंत्र द्वारा मनुष्य ने प्रकृति के अधिकांश पर अधिकार कर लिया है। मानव-इतिहास के आदिकाल से लेकर आज तक की स्थिति में पहुँचे मानव को देखकर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मानव-बुद्धि का कितना महान् विकास हुआ है। वन-चर स्थिति मानव का प्रथम चरण था, और आज की वर्तमान विकसित स्थिति उसकी बुद्धि की पराकाष्ठा है। आदि-युग का मानव सब भाँति साधनहीन था, किंतु वर्तमान यंत्र-युग का मानव सर्व-साधन सम्पन्न है; जल, थल, नभ—सर्वत्र मनुष्य का अधिकार है। पृथ्वी के गर्भ, अथाह समुद्र की जल-राशि, अनंत-आकाश में वह विचरता है। इस पृथ्वी के ओर-छोर तक में मानव-चरणों का स्पर्श हो चुका है। अन्तरिक्ष लोक में मंगल-ग्रह तक पहुँचने की चेष्टाएँ हो रही है। तात्पर्य यह कि मानव, आज प्रकृति का शासक है, राजा है। किन्तु यह सब हुआ क्यों और कैसे ? केवल-मात्र मानव के साहस के बल पर। साहस के बल पर ही असंख्य-असंख्य मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने के लिए पृथ्वी, आकाश और समुद्र को नापने निकलते रहे हैं। और इस साहस का साधन मनुष्य द्वारा स्वत.-निर्मित यंत्र है। और इस यंत्र-युग को दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक-युग भी कहते है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में केवल पुरुष ही अग्रणी नही। आज के युग में अबला कही जाने वाली नारी भी ऐसे साहसपूर्ण कार्य कर

रही है कि उसे अबला कहनेवालों को स्वतः नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, आइंस्टाईन जैसे दार्शनिक ने तो सापेक्ष-विज्ञान द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि स्त्री और पुरुष में कार्य-क्षमता की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं। जो साहसिक कार्य पुरुष कर सकता है, उसे नारी भी सहज ही कर सकती है। इसमें संदेह नहीं कि हमारे देश भारत पर अभी यह तर्क सक्रिय लागू नहीं होता। हमारे देश का नारी-समाज अभी अशिक्षा के गर्त में पड़ा हुआ है। तिस पर भी स्वतन्त्रता के उदय से भारतीय नारी अपने स्वत्व को, अपनी शक्ति को, अपने अन्तर्निहित शौर्य को पहचानने की दिशा में अग्रसर हो रही है। सेना, रक्षा-दल तथा अन्य सामाजिक-क्षेत्रों में भारतीय नारी अपना उचित स्थान पा लेने के लिए व्यग्र हो उठी है, और आशा की जाती है कि निकट-भविष्य में हमारा भारत देश भी अन्य देशों की तुलना में किसी भाँति पिछड़ा नहीं रहेगा।

नारी की शक्ति के विषय में शंका करनेवालों और अपने देश की होनहार संतति के लिए आदर्श रूप में एक अंग्रेज महिला के अदम्य साहस का हम यहाँ उल्लेख करते हैं। किस प्रकार उसने एकाकी वायुयान द्वारा १४ हजार मील की यात्रा की। उसे अन्तरिक्ष की बाधाएँ रोक नहीं सकीं, उसे वायुयान के बिगड़ने का भय नहीं हुआ, उसे संसार की कोई भी भौतिक-शक्ति उसके दृढ़-निश्चय से विचलित नहीं कर सकी। विश्व भर में यह पहली ही महिला है कि जिसने इतने लम्बे अन्तर को स्वयं-चालित वायुयान द्वारा ग्यारह दिन में पूर्ण किया।

४ अक्तूबर १९३६ का दिन था। अभी झिलमिल-सा प्रकाश था। कैंट में लिम्पने हवाई अड्डे पर लोगों का एक छोटा-सा समूह एकत्रित था। यह समूह इंग्लिश जल-मार्ग के ऊपर अंधकारावृत्त

आकाश में तीव्र गति से लोप होनेवाले एक वायुयान को तृपित आँखों से देख रहा था।

वह पर्सीवल मोनोप्लेन को देख रहे थे और उसकी शीशा-निर्मित कोठरी में न्यूजीलैंड देश की २२ वर्षीया कुमारी जीन बैटन बैठी थी। पर्सीवल की एकमात्र यात्री जीन विश्व के एक कोने से दूसरे कोने को जा रही थी—इंगलैंड से न्यूजीलैंड। इससे पूर्व किसी भी पुरुष या स्त्री ने एकाकी ऐसा साहस नहीं किया था।

जीन का यह मात्र साहस-कार्य था। निःसंदेह, उसका यह निश्चय वीरता-पूर्ण था, किंतु इससे भी कहीं अधिक उसके अन्तर का उत्कट साहस था, जिसने उसे ऐसे साहसिक कार्य के लिए प्रेरित किया था। गत छः वर्षों से वह वायुयान-चालिका थी। वायुयान-चालन का उसे उच्चतम अभ्यास था। वह लंबी-लंबी उड़ानें ले चुकी थी। किन्तु वर्तमान जैसी नहीं। वह इंगलैंड से आस्ट्रेलिया तक जा चुकी थी, अफ्रीका से दक्षिणी अमरीका तक जाने में वह अकेली दक्षिणी अंध-महासागर को पार कर चुकी थी, यह सब यात्राएँ, उसने एकाकी एवं समाचार-पत्रों में प्रकाशन के बिना, की थीं। प्रस्तुत-यात्रा उसकी सब से अधिक दूरी की थी। इस यात्रा में उसे अंतिम उड़ान तस्मान सागर पर से १,२०० मील की करनी थी।

लिम्पने से चलकर चार घंटे बाद जीन फ्रांस के भूमध्य-सागर तट पर पहुँच गई और मार्सेलीज में प्रातराश किया। उपरान्त आध घंटे में जीन के जहाज में आवश्यक तेल आदि डाला गया और तत्काल ही वह १२० मील प्रति घंटे की रफ्तार से इटली की ओर रवाना हो गयी। दोपहर बाद वह ब्रिंडिसी जा पहुँची, जो इंगलैंड से लगभग १,२०५ मील के अन्तर पर है। जीन ने रात यहीं बितायी।

प्रातः होते ही वह भूमध्य-सागर को पार करती हुई बगदाद का

लक्ष्य करके रवाना हो गयी। ब्रिंडिसी से बगदाद लगभग १,५०० मील के अंतर पर है। बगदाद में रात्रि के विश्राम का निश्चय कर ६ घंटे की उड़ान के बाद वह साईप्रस द्वीप में उतरी। आध घंटे में वायुयान में तेल आदि आवश्यक सामग्री लेकर जीन सीरिया तट और एशिया की दिशा में चली। सारी दोपहर भर वह सीरिया और ईराक के मरु-स्थल पर से निकलती रही। इस मरु-स्थल में बड़े भयंकर अंधड़ उठते हैं। इसलिए यानचालकों को विशेष सावधान रहना होता है। अभी दोपहर ढली ही थी कि जीन का वायुयान एक भयंकर अंधड़ में फँस गया। बहुतेरा यत्न करने पर भी जब वह आगे न बढ़ सकी तो झुटपुट अंधकार में बगदाद से २०० मील पूर्व ही उसे विवश होकर उतरना पड़ा। उस मरु-स्थल में एक पैट्रोल की कंपनी का स्टेशन था। कंपनी के लोगों ने जीन को रात्रि-विश्राम के लिए सब प्रकार की सुख-सुविधा कर दी। आगामी प्रातः वह ४४० मील के अन्तर पर बसरा के लिए रवाना हुई। बसरा पहुँचकर सदा की भाँति जीन बैटन ने प्रातराश किया। आज का प्रातराश तो जैसे झपट-झपटकर उसने किया। उसने निश्चय किया था कि रात्रि का भोजन भारत पहुँचकर करूँगी। उसे अपने वायुयान के इंजन तथा मशीनरी की भी चिन्ता थी; क्योंकि उसके निश्चय के मध्य था सऊदी अरब का विस्तृत क्षेत्र।

जीन अपने निश्चय में सफल हुई और शाम को सात बजे कराची (अब पाकिस्तान की राजधानी) पहुँच गई। यह उड़ान निरन्तर ९ घंटे की थी और इन ९ घंटों में उसने १,२४० मील की यात्रा की। मार्ग में ज़ास्क क्षेत्र में उसका जहाज पुनः अंधड़ में फँस गया, किन्तु १२ हज़ार फ़ुट की ऊँची उड़ान के द्वारा वह अंधड़ को सहज ही पार कर गयी। आज समूचे दिन में उसने १,६८२ मील की यात्रा की थी, जो कि सब दिनों से अधिक थी। और इंगलैंड से

चलने के बाद तीन दिन के अन्दर वह भारत पहुँच गयी।

किन्तु अगले दिन उसने निश्चय किया कि इससे भी अधिक यात्रा करूँगी और तदनुसार वह कराची से चार बजे प्रातः रवाना हुई। उसका आज का लक्ष्य बर्मा स्थित अकयाब था। अकयाब बंगाल की खाड़ी के पूर्व-तट पर स्थित है। दिन भर में १,९०० मील की यात्रा में वह केवल इलाहाबाद में कुछ समय के लिए रुकी।

अगले दिन वह अकयाब से पेनांग के लिए रवाना हुई। इस १,१५० मील की यात्रा में उसे सब दिनों से अधिक बुरे मौसम से पाला पड़ा। एलोर स्टार के निकट जीन का वायुयान भीषण जल-वृष्टि में घिर गया। घंटो उसे जैसे "बन्द आँखों" से उड़ना पड़ा। इस भीषण काल में उसका पथ-दर्शक केवलमात्र दिशा-ज्ञान यत्र था। उसी के सहारे वह बढ़ रही थी। आकाश में पानी, पृथ्वी पर पानी—सभी ओर जैसे पानी का महान् सागर उमड़ रहा था। कुछ क्षणों के लिए जीन का हृदय दहल-सा गया। उसके जहाज के पंख का कपड़ा कई स्थानों पर से क्षत हो चुका था। थोड़ी-सी और क्षति से सारा खेल तमाम हो सकता था। जीन में मानो सहस्र-सहस्र गुना साहस उमड आया। वह निरन्तर बढ़ती गई। उसके दिल में आई, क्यों न रंगून में पल भर के लिए उतर जाऊँ। किन्तु साहस ने झकझोरकर कहा, "क्यों साहस के दामन को बदनाम करती हो!" और जीन बढ़ती ही गयी। रंगून उतरने की इच्छा पर साहस विजयी हुआ, और जीन का लक्षित पेनाँग आ पहुँचा। भगवान साहसी का साथ देते हैं—जीन उसका साक्षात उदाहरण थी। पेनांग तक पहुँचकर वह दिन भर में १,१५० मील की यात्रा कर चुकी थी। और साहस के बल पर वह पेनांग से कुछ ही मिनटों में पुनः आकाश-मार्ग पर जा पहुँची। बात-की-बात मे ३०० मील की यात्रा के उपरान्त वह सिगापुर में थी।

सिंगापुर में क्षत पंख की मरम्मत करवायी।

अँधेरा हो चुका था। वायुयान को पूरी तरह लैस कर दिया गया था। कारीगर उसे आश्रय-स्थल में बन्द करने की सोच रहे थे कि जीन ने यात्रा जारी रखने की घोषणा की। सुबह से शाम तक चलकर थकी हुई जीन के निश्चय को सुनकर सब अवाक् रह गये। मार्ग में इतनी बाधाएँ आईं, दिन भर घोर मौसम से संघर्ष करना पड़ा—किन्तु साहसी वीर को इसकी चिन्ता कब होती है। जीन ने कुछ घंटों तक हवाई अड्डे पर विश्राम किया और मध्य रात्रि के पूर्व ही डच-हिंद पूर्वी-द्वीप-समूह की ओर रवाना हो गई। मानो अन्तरिक्ष का महान् अंधकार जीन के साहस को देखकर कुंठित हो गया था। इस यात्रा में रात्रि-उड़ान का यह पहला ही अवसर था।

इंगलैंड छोड़े पाँचवें दिन की प्रातः का समय था। अक्तूबर की १० तारीख थी। वह बटाविया पर से निकल रही थी। किन्तु वह रुकी नहीं। वह जावा में रामबाग की ओर बढ़ती गई। ९ बजे प्रातः के भोजन के लिये वह थोड़ी देर रुकी और एकाएक कोइपांग के लिए रवाना हो गई। यहाँ उसके वायुयान के पृष्ठ-भाग में छिद्र हो गया। किन्तु जीन ने पर्वाह न की। छिद्रित-चक्र में स्पंज आदि की क्रिया उपरान्त वह आगामी प्रातः आस्ट्रेलिया के लिए निकल पड़ी। आस्ट्रेलिया तक की यह यात्रा सर्वाधिक भीषण थी। किन्तु साहस और भीषणता में तो शत्रुता है। और जीन तिमोर समुद्र को पार करने के लिये चल पड़ी।

विस्तृत जल-राशि पर एक-मात्र वायुयान उड़ रहा था। चारों ओर जल-ही-जल-राशि। भूमि का निशान तक दिखाई न देता था। जीन दिशा-ज्ञान यंत्र के सहारे आस्ट्रेलिया की ओर बढ़ रही थी।

और निरन्तर कई घंटों की यात्रा के उपरान्त ठीक ग्यारह बजे से कुछ ही पूर्व उनका जहाज डारविन बन्दरगाह पर चक्कर काट रहा था। वह भूमि पर उतरने की चेष्टा कर रही थी। किन्तु एकाएक उसके वायुयान का वायु-प्रदाता यंत्र जम-सा गया। इंजन ने कार्य करना बन्द कर दिया। और तब जीन को पुनः ऊपर उड़ना पड़ा। वह हवाई अड्डे पर चक्कर काट रही थी और वायु-प्रदाता यंत्र के साथ संघर्ष कर रही थी। फलतः उसने फिर उतरने की चेष्टा की। उसने अत्यधिक कुशलतापूर्वक चालन किया और चक्र-अवरोधों (ब्रेकों) के प्रयोग से वायुयान को भूमि पर उतार लिया। भूमि का स्पर्श करते ही वायुयान की गति एकदम रोक दी गयी। और जीन इस भीषण परीक्षा से खिलखिलाती बाहर आ गयी। इस प्रकार इंगलैंड से आस्ट्रेलिया तक पहुँचने में उसे ५ दिन, २१ घंटे और ३ मिनट लगे थे।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप के उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर बढ़ती हुई जीन चार दिनों के पश्चात् सिडनी के निकट रिचमंड हवाई अड्डे पर अनुकूल मौसम की प्रतीक्षा कर रही थी। अब उसकी यात्रा का अन्तिम चरण शेष था। उसे तस्मान समुद्र को पार कर के न्यूजीलैंड पहुँच जाना था। तस्मान-समुद्र का यह लम्बा मार्ग इतना खतरनाक था कि कइयों ने जीन बैटन को परामर्श दिया कि वह इस यत्न को छोड़ दे, क्योंकि मौसम वायुयान चालन के लिए सर्वथा विपरीत था। किन्तु जीन बैटन अपने निश्चय पर दृढ़ थी। उसे कोई भी खतरा भयभीत नहीं कर सकता था। वह अटल थी लेकिन अनुकूल वातावरण का उसने वचन अवश्य दिया। और १६ अक्तूबर को जीन बैटन १,२०० मील की विस्तृत जल-राशि को पार कर न्यूजीलैंड में पहुँच गयी थी।

सिडनी से आक्लैंड को समुद्र द्वारा तार दिया गया कि जीन रवाना हो गयी है। अपने देश की साहसी और वीर-महिला के स्वागत के लिए आक्लैंड के अड्डे पर हजारों की भीड़ एकत्र हो गयी। लोग घंटों पूर्व ही आकाश की ओर आँखें गड़ाए थे। उन्हें लग रहा था कि जैसे देखते-देखते कई दिन वीत चुके हैं। साढ़े आठ घंटे वीत चुके थे। इतना ही समय तो जीन ने भी निश्चित किया था। किन्तु भीड़ के प्रत्येक व्यक्ति का हृदय व्यग्र हो-हो जाता था। हर कोई तस्मान जल-राशि से परिचित था। मन-ही-मन शंका उठ आती और विलीन हो जाती थी। एकत्र समूह शान्त एवं गम्भीर मुद्रा से प्रतीक्षा में व्याकुल था।

उपरान्त साढ़े ९ घंटे के वाद समाचार आया कि वायु-वेग से गत्यवरोध हो गया है और न्यूप्लाई माऊथ पर से निकलता हुआ वायुयान देखा गया है। उसके वाद एक घंटे पश्चात् जीन वैटन का वायुयान आक्लैंड के हवाई अड्डे पर उतरा। उपस्थित लोग हर्ष से पागल हो गये। इंगलैंड से न्यूजीलैंड तक अपने देश की एकाकी वीर-महिला की सफल-यात्रा के उल्लास में सवकी आँखें छलछला आयीं।

इसे कहते हैं साहस !!

निर्जन द्वीप में २१२ सप्ताह

स्वभावतः चंचल, धुन का पक्का, निर्भय एवं साहसी बालक गिर्जा-घर में रविवार के दिन धर्मोपदेश के अवसर पर हँसा—और हँसा भी ठहाका मारकर। बीसवीं सदी का काल होता, तो सम्भवतः कोई ध्यान भी न देता। वह था अठारहवी सदी का आरम्भ। अगले ही दिन प्रातः समय जॉन सेल्कर्क, चर्मकार के गृह-द्वार पर विज्ञप्ति चिपका दी गयी कि उसका बेटा अलैक्जेंडर सेल्कर्क गिर्जाघर के महापुरुषों के सम्मुख उपस्थित हो।

अलैक्जेंडर ने सोचा—यह भी क्या बेहूदी बात है, क्यों उपस्थित हुआ जाय? क्यों न ग्राम ही छोड़ दूं? और उसी दिन वह घर से निकल पड़ा। घर से निकलकर सीधा समुद्र की ओर चला गया और मध्य-रात्रि तक उसकी जन्म-भूमि फाइफ-शायर (स्कॉटलैंड) का तट मीलों पीछे रह गया था। सम्पूर्ण विश्व में अपूर्व साहस की एक महान् कथा के निर्माण का यह सूत्रपात था।

अलैक्जेंडर एक चर्मकार-पिता का पुत्र था। उसका जन्म फाइफ़शायर तट के लार्गो नामक ग्राम में १६७६ में हुआ था। माँ-बाप का सातवाँ पुत्र। माँ कहती, "भाग्यवान है। नाम करेगा।" सच ही, भाग्य की तो कहते नहीं, किन्तु अलैक् का नाम अमर हो गया। पिता ने बहुतेरा कहा कि अलैक् पैतृक-व्यवसाय को ग्रहण कर ले, किन्तु बाल्यकाल से ही वह घुमक्कड़ था। घर में बैठे ठक-ठक करते रहना उसे पसन्द नहीं था। वह चाहता था, मै दुनिया देखूं। दूर-दूर के देशों में जाऊँ। मैं उन द्वीपों में जाऊँ जिनका किसी को पता तक नही। बाल्यकाल के उसके ये स्वप्न पूरे हुए।

इस बीच उस मध्य-रात्रि की यात्रा के उपरान्त चर्मकार-पुत्र अलैक् स्पेन सागर, हिन्द महासागर, और दक्षिणी समुद्र की यात्राएँ कर चुका था। अनेकानेक समुद्र यात्राओं के कारण अब वह प्रवीण नौ-चालक बन गया था। वुड्सरॉजर्स, स्ट्राडलिंग तथा डाम्पियर जैसे कुशल नौ-चालकों के साथ वह नौ-चालन करता था। ये समुद्र पर्यटक दक्षिणी अमरीका की तटवर्ती नई बस्तियों पर आक्रमण करते, समुद्र-मार्ग में मिलने वाले अंग्रेज-इतर जहाजों के साथ लड़ते, उन्हें लूटते और लूट-लूट कर अतुल-सम्पत्ति ले-लेकर घर लौटते। इस अनुशासन-हीन जीवन में भी एक मस्ती थी, एक मौज थी। किन्तु सच्चे घुमक्कड़ को लूट-खसोट, लड़ाई-भिड़ाई, दूसरों का विनाश कदापि रुचिकर नहीं होता।

ठीक यही दशा थी हमारे सैलकर्क की। वह ऐसे जीवन से ऊब गया था, वह साथियों की लड़ाई-भिड़ाई से उकता गया था। वह चाहता था एकान्त! एकान्त की खोज इसलिए थी कि आने वाले लोग उस एकान्त का सर्व प्रकार से लाभ उठा सकें। अब वह चुप-चुप रहने लगा। उसकी बाल-सुलभ चंचलता का लोप हो गया। जिस धर्मोपदेश के अवसर पर वह ठहाका मारकर हँसा था, आज उसे बाईबिल को पढ़कर शान्ति मिलने लगी। शायद, आज उसे पादरियों के वे लम्बे उपदेश भी याद हो आये कि जो उसने गिर्जाघरों में सुने थे। इसके अतिरिक्त, इन्हीं दिनों उसने एक स्वप्न देखा। उसने देखा कि जिस जहाज में वह यात्रा कर रहा था, वह नष्ट हो गया है। वह "सिंक पोर्ट्स" नाम का जहाज था। वर्षों बाद, सैलकर्क को यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि उसका स्वप्न सत्य ही निकला। "सिंक पोर्ट्स" नष्ट हो गया था और स्ट्राडलिंग अपने चालकों सहित स्पेनवासियों का बन्दी बन गया था।

जो भी हो, इस विनाश से कुछ दिन पूर्व की बात है। "सिंक पोर्ट्स" एक निर्जन द्वीप के तट पर मीठा पानी लेने के लिए रुका। उस द्वीप का नाम "जॉनडे फर नॉनडे" था। जहाज छूटने से थोड़ी ही देर पहले सैलकर्क अपने कप्तान के पास गया। उसने याचना की कि उसे यहीं छोड़ दिया जाय। स्ट्राडलिंग ने सैलकर्क की बात सुनी तो एकाएक बिगड़ उठा। वह अपने नौ-चालक को इस प्रकार निर्जन स्थान पर छोड़ने के लिए सहमत नहीं था, क्योंकि इन दिनों के दूर-दूर के सामुद्री-मार्गों को जाननेवाले लोगों की बहुत कमी थी। किन्तु सैलकर्क अपने हठ पर दृढ़ था। उसकी वृत्ति में पर्याप्त अन्तर आ चुका था।

"क्या तुम चाहते हो कि तुम्हें इस निर्जन द्वीप में छोड़ जाऊँ, सच ही तुम्हारा यही मतलब है?" स्ट्राडलिंग ने पुनः पूछा।

"सत्य ही। मैं यही चाहता हूँ।"

अन्ततः कप्तान सहमत हो गया। एक नाव उतारी गई, और सैलकर्क को तट पर पहुँचा दिया गया। उसे उसका संदूक दे दिया गया, जिसमें थोड़े वस्त्र थे, एक बन्दूक थी, चकमक पत्थर और इस्पात, एक पौण्ड बन्दूक का बारूद, एक चाकू, एक कुल्हाड़ी......और उसकी बाईबिल। सैलकर्क को छोड़कर जहाज जा रहा था। उसकी दृष्टि से ओझल हो रहा था। ज्यों-ज्यों वह ओझल होता गया, सैल-कर्क के हृदय में मानो एक प्रसन्नता की लहर दौड़ती गई। इस प्रस-न्नता को वह गीत के स्वर में व्यक्त करने लगा, जहाँ सिवा उसके न कोई सुनने वाला था, न कोई बोलने वाला था। आकाश, पृथ्वी और दिशाएँ ही उसके लिए सब-कुछ थी। किन्तु ज्यों-ज्यों संध्या निकट हुई, और दूर क्षितिज में उसके जहाज का बिन्दु-मात्र लीन होता हुआ दिखाई पड़ा, तो उसे लगा, मैं एकाकी हूँ। जैसे वह उदासी

के वातावरण में डूब-डूब जाने को हो ।

और जब रात्रि ने अपने विकराल अन्धकार द्वारा उस निर्जन प्रदेश को अपने गर्त में अन्तर्हित कर लिया, तो सैलकर्क को लगा, जैसे वह सदैव के लिए इस महा-अन्धकार में डूब गया है। अनन्त जल-राशि से घिरा हुआ प्रदेश, जहाँ वायु की साँय-साँय, विचित्र जीव-जन्तुओं के अ-सुने स्वर और घोर अन्धकार—सैलकर्क डर गया। नींद तो जैसे लोप हो चुकी थी। भय के कारण पागल-सा बना रातभर वह सन्दूक पर बैठा रहा। सूर्य की किरणों के प्रकाश ने उसका कायाकल्प कर दिया। भूख ने भी उसे तंग किया, किंतु धीरे-धीरे वह परिस्थितियों के अनुरूप बनने लगा।

प्रारम्भिक दिनों में वह जंगली फलों पर गुजर-बसर करने लगा। करमकल्ला, जलकुंभी, चुकंदर, खजूर उसके खाद्य थे। कभी-कभी निकट जल-राशि से मछली भी पकड़ लेता। एक दिन उसने एक जंगली बकरे का शिकार किया। उसकी चमड़ी उतारी। चकमक पत्थर और इस्पात से आग जलाई। बकरे का मांस पकाया। उस दिन सैलकर्क ने अपने लिए बहुमूल्य भोज तैयार किया था। फलतः, उसने बहुत दिनों बाद भर-पेट खाया। उसके बाद आँधी और वर्षा से रक्षा के लिए उसने एक झोंपड़ी बनायी। अनन्तर एक मेज और कुर्सी बनायी। अपने पास के बारूद को वह बहुत लोभ के साथ प्रयोग में लाता था। बहुधा जंगली बकरों को खाद्य के लिए मारा करता था। उसने बकरी के छोटे-छोटे बच्चे भी पकड़े। उन्हें पाला, उसने देखा कि जहाँ-तहाँ जई उगी हुई है। उसने उसकी कृषि की और उसकी रूखी-सूखी रोटियाँ बनाकर खाता। ऐसा जान पड़ता था कि उससे पूर्व भी कोई घुमक्कड़ उस निर्जन प्रदेश में गया था और संभव है, उसके थैले में से कुछ जई के दाने बिखर गये हों। एक दिन उसने बहुत

वड़ी मछली पकड़ी, जिसका तौल आठ या नौ पौंड होगा।

इन्हीं दिनों उसके नये साथियों ने जन्म ले लिया था। उसकी झोंपड़ी में चूहों का बसेरा हो गया था। सैलकर्क सोता, तो वे सोने न देते। नाकों-दम कर रखा था उन्होंने। एक दिन सुबह-सुबह उसकी झोंपड़ी के पास विनष्ट जहाज का एक और जीव आ पहुँचा। वह मनुष्य नहीं था। मनुष्य तो वहाँ आ ही कैसे सकता था! वह थी जहाज की बिल्ली। सैलकर्क ने भगवान को धन्यवाद दिया। उसने उसके कष्ट को सुन लिया। बिल्ली ने सैलकर्क को देखा तो वह प्यार से गुर्र-गुर्र करती हुई पाँव मे लोट गयी। दोनों मित्र बन गये। यह बिल्ली अन्त तक सैलकर्क के साथ रही। हाँ, चूहों ने सैलकर्क का साथ छोड़ दिया था। अब उसे नींद आती—गहरी!

सैलकर्क जब तक जागता, कुछ-न-कुछ करता ही रहता। उसने बकरे की चाम की टोपी, जाकिट और पाजामा बनाया। उसने अंतड़ियों की ताँतों के धागे से अपने कपड़े सिये। उसे रेत में पड़ी एक कील मिल गई थी। उसी को उसने सूई बना लिया था। उसके पास जूते नहीं थे। वह नंगे पाँव रहता था। वह नंगे पाँव रहने का इतना अभ्यस्त हो चुका था कि जंगली बकरों तक को भागने में पछाड़ देता था। वह प्रसन्नतावश नाचता, कूदता, प्रकृति की गोद में प्रफुल्ल हो-हो जाता।

एक दिन एक बहुत बड़े बकरे को उसने सींगों से पकड़ लिया। बकरा पूरे दल के साथ मुकाबला कर रहा था। सैलकर्क ने भी बकरे के सींगों को सारे जोर के साथ पकड़ रखा था। एकाएक उसका पाँव फिसला। दोनों ही पास की खड्ड में जा गिरे। बकरा तो मर गया किंतु सैलकर्क भी उस मरे हुए बकरे के ऊपर निरन्तर ७२ घंटे तक बेहोश पड़ा रहा। इस अवसर के समय का ज्ञान उसे चन्द्रमा

द्वारा हुआ था। इस निर्जन स्थान में भी उसने अपनी दैनंदिनी (तिथि-क्रम) रखी हुई थी। अक्तूबर, १७०४ से लेकर, जब वह पहले-पहल उस द्वीप में गया था, और उपरान्त फरवरी, १७०६ तक, जबकि वह वहाँ से चला था, उसने एक पेड़ पर चाकू द्वारा संपूर्ण अंकन किया था। अपने आरम्भिक युवा-काल में नौ-चालन के कारण दैनंदिनी रखने की उसे आदत-सी हो गयी थी। वह अपने खाने में नमक नहीं छोड़ता था। केवल जंबू घास से अपने भोजन-द्रव्य को सुगंधित कर लेता था।

कुछ समय बाद ऐसा अवसर हुआ कि उसे अपना एकाकी जीवन अखरने लगा। वह उदास-उदास हो जाता। उसका दिल बैठ-बैठ-सा जाता। उसने नित्य-प्रति बाईबल पढ़ना शुरू कर दी। कितने ही दिन, सप्ताह और मास बीत चुके थे। उसे लगने लगा कि मैं अपने जन्म-स्थान से दस हजार मील के अन्तर पर स्थित इस निर्जन-प्रदेश में मर जाऊँगा। उसने निश्चय किया कि एक टीले की चोटी पर लकड़ियों और झाड़-झंखाड़ों को जमा करूँ। वह स्थान प्रशांत महासागर की विस्तृत जल-राशि से अग्नि जलाने पर सहज ही दिख सकता था। अब वह प्रतिदिन प्रातः से संध्या तक दूर क्षितिज को तृषित-नेत्रों से देखा करता। शायद किसी जहाज की उपत्यका दृष्टिगोचर हो जाय और दृष्टिगत होते ही वह सहायता के संकेत के लिए अग्नि जला देगा।

पहला वर्ष इसी आशा में बीत गया। उसे कोई भी जहाज दृष्टिगोचर न हुआ। दूसरा वर्ष भी निकल गया, और तीसरा वर्ष भी समाप्त-प्राय था कि सैलकर्क ने देखा, अथवा देखने का भ्रम हुआ कि एक जहाज पूर्व-दिशा को बढ़ता जा रहा है। वह दौड़ा। उसे मानो जीवन की आशा हो गई। वह टीले की चोटी पर गया। उसका

दिन वल्लियों उछल रहा था। उसने इस्पात और चकमक से अग्नि को प्रज्वलित कर दिया। अग्नि प्रज्वलित होते ही आग की लपटें आकाश को छू-छू जाने की चेष्टाएं करने लगीं। कुछ क्षणों में आग की लपटें शांत भी हो गयीं। सैलकर्क की आशा घोर निराशा में बदल गयी। बेचारा थक चुका था। और उसके बाद उसने महान् सागर की ओर दृष्टि घुमाई तो उसे जान पड़ा कि सूर्योदय के कारण उसे जहाज की उपत्यका का भ्रम हुआ था।

बेचारा सैलकर्क निराशा में डूब गया। वह शीतलतापूर्ण अनंत-अनंत जल-राशि उसके दग्ध हृदय को शांत नहीं कर सकती थी। प्रतिदिन सूर्योदय के साथ वह आशान्वित हो उठता, किंतु संध्या होते-होते उसकी आशा निर्जन प्रदेश के अनंत मौन में लीन हो जाती। और सैलकर्क अपनी इस अनंत निराशा को सिमटा लेने के लिए अपनी झोंपड़ी की सीमाओं मे अन्तर्निहित हो जाता।

इसी तरह चार वर्ष और चार मास बीत गए, अर्थात् २१२ सप्ताह। और तब एक दिन—३१ जनवरी, १७०९—अभी संध्या होने ही जा रही थी, कि दो जहाज दक्षिण-पूर्व को जाते हुए नजर पड़ गए। सैलकर्क में जैसे जान आ गयी थी। सौभाग्य से दोनों अंग्रेजी जहाज थे—"ड्यूक" और "डचैस"। अँधेरा होने को था। सैलकर्क आह्लाद भरे हृदय से अग्नि को निरंतर तीव्र से तीव्रतर रूप में प्रज्वलित कर रहा था। और इसी तरह वह रात भर करता रहा। इस भूमि के जहाजी संकेत को पाकर जहाजों ने द्वीप से कुछ दूरी पर लंगर डाल दिये।

सुबह होते ही ड्यूक ने एक नाव को पानी में छोड़ा। डाम्पियर जहाज पर ही रहा किन्तु कैप्टिन डोवर, मि० फ्राई और ६ अन्य सशस्त्र आदमी नाव द्वारा तट की ओर बढ़े। उन्हें खयाल था कि स्पेनिश

लोगों के साथ मुठभेड़ होगी किन्तु उन्हें देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ केवल एक ही आदमी उनकी राह तक रहा था। एकाकी सैलकर्क ! वह पागलों की भाँति उछल-उछल रहा था, बाँहें फैला-फैला कर वह दिखा रहा था—उन्हें नाव लगाने की जगह।

"कोई पागल है पागल," मि० फ्राई ने कहा। उसने चमड़े के वस्त्र पहन रखे हैं, किन्तु उसके पास बन्दूक है। सावधान रहो।...!"

२१२ सप्ताह से जिसने मानव-स्वर को सुना तक नहीं था—वह सैलकर्क बोल सकने में भी आज असमर्थ था। बोलना तक वह भूल गया था। किंतु वह अबाध आगे बढ़ा, उसने अपनी बंदूक और झोला फेंक दिया—और जिस आदमी ने सबसे पहले भूमि पर पाँव रखे थे, उससे लिपट गया।

निर्जन प्रदेश में निर्वासित—सैलकर्क को जहाज में लाया गया। और स्वयं डाम्पियर ने उसे पहचान लिया। उसकी पहचानी सूरत थी। "ओ या खुदा, तुम सैलकर्क हो ! मेरे पुराने नौ-चालक सैलकर्क" डाम्पियर ने कहा।

"ह-हाँ—सैल-क्-कर्क—!" निर्वासित ने हकलाते हुए धीमे और अस्फुट स्वर में कहा। धीरे-धीरे उसकी खोई हुई वाक्शक्ति लौटने लगी। और थोड़ी देर बाद, थोड़ी-थोड़ी करके वह अपनी राम-कहानी सुना रहा था। किन्तु बरसों निर्जन स्थान में रहकर अपनी मातृ-भाषा को पुनः सुनकर उसे जो आनन्द हुआ, वह वर्णनातीत है।

उसके अनन्तर अढ़ाई वर्ष तक प्रशान्त महासागर और चीन सागर में पर्यटन के अनन्तर "ड्यूक" अपने घर की ओर रवाना हुआ। जहाज स्काटलैंड के पूर्वी-तट की ओर से निकला कि जहाँ से निर्वासित का घर दिखाई देता था। कुछ ही दिनों बाद १४ अक्तूबर

१७११ को "ड्यूक" ने टेम्स नदी में लंदन ब्रिज के नीचे लंगर डाल दिया ।

लंदन भर में, और उपरांत इंग्लैंड भर में, और उसके भी बाद सर्वत्र—सेलकर्क के निर्वासन के समाचार फैल गए । सभी जगह के लोग उसकी कहानियों में दिलचस्पी लेने लगे । किन्तु सैलकर्क को इस ख्याति से डर लगने लगा । उसे लंदन की भीड़-भाड़ को देखकर घृणा होती थी । एक विख्यात लेखक को एक भेंट के अवसर पर सैल्कर्क ने कहा था, "मैं तो पुनः उसी एकाकी द्वीप में चला जाना चाहता हूँ । मुझे यह भीड़भाड़ पसंद नहीं ।"

सैलकर्क अपनी जन्म-भूमि लार्गो भी गया । वहाँ उसने देखा—वयोवृद्ध चर्मकार काम कर रहे हैं । वह कुछ समय वहीं रहा । उसने विवाह भी कर लिया था । किन्तु पत्नी की मृत्यु हो गई । अब तो लौटे हुए निर्वासित को पुनः घुमक्कड़ी का ज्वर हो आया । एक बार पुनः उसने समुद्र-मार्ग को लक्ष्य बनाया किन्तु इस बार वह लौटा नहीं, किन्तु कहा जाता है कि सन् १७२१ में उसकी मृत्यु हो गई ।

ऐसे साहसी एवं त्यागी मनुष्यों ने ही पृथ्वी पर विजय पायी है । कूपमंडूक बने रहने से न तो मनुष्य अपना कल्याण कर पाता है, न ही समाज का और न ही देश का !!

विश्व के गिरि-शृंग

मानव आवश्यकताओं का पुञ्ज है। उसकी अनेकानेक आवश्यकताएँ हैं; खाने, पीने, पहनने और रहने की। आदि-युग के मानव की केवल एक-मात्र आवश्यकता थी—क्षुधा की तृप्ति। जंगली फलों और वनचर जीवों के मांस से वह क्षुधा शान्त कर लेता था। प्यास लगने पर जंगली झरनों के जल से प्यास मिटा लेता था। किन्तु मानव स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। धीरे-धीरे छोटे-बड़े समूहों में मानव का समाज निर्मित हुआ। समाज से राष्ट्र और राज्यों का जन्म हुआ। मानव पूर्णरूप से सामाजिक रूप में आ गया। और यही सामाजिकता अनंत—अनंत आवश्यकताओं की जननी है। सामाजिक जीवन के साथ-साथ मानव की जनसंख्या में वृद्धि हुई। जनसंख्या की वृद्धि के कारण उसके खाने, पीने, पहनने और रहने की समस्याएँ बढ़ीं। मानव में खोज एवं अनुसंधान तथा साहस की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। इन प्रवृत्तियों का भी एक-मात्र लक्ष्य मानव-आवश्यकताओं की तुष्टि है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत मानव ने जल, थल, नभ—सारांश संपूर्ण प्रकृति पर विजयी होना चाहा। और यह कितनी प्रसन्नता की बात है कि आज के युग में ये सब बातें क्रियात्मक रूप में हमारी ही आँखों के सामने हो रही हैं।

मनुष्य अपनी सीमित किन्तु अतुल शक्ति से गहनतम समुद्र की खोज कर चुका है, मनुष्य अन्तरिक्ष में उड़ता है; उसने अनेकानेक ऐसे यंत्र बना लिये हैं; जिनसे अन्तरिक्ष का सहज ज्ञान होने लगा है; उसने पृथ्वी-तल और धरती की छाती को फाड़-फाड़ कर क्या कुछ नहीं पा लिया! सामान्य अनाज से

लेकर उससे सोना, चांदी, तांबा, लोहा, कोयला, तेल—सभी कुछ पा लिया है। इसी अतुल शक्ति के सहारे उसने विश्व के गिरि-शृंगों पर विजयी होने की बाजी ले रखी है। इन गिरि-शृंगों पर चढ़ने में यदि उसके अथवा उसके साथियों के प्राणों का अंत भी हो जाता है, तो वह सकुचाता नहीं, भयभीत नहीं होता, उनके बलिदान से उसमें द्विगुणित साहस उत्पन्न होता है। उसकी उत्कट इच्छा होती है कि इस पृथ्वी-तल के अनोखे स्थानों की खोज करूँ, कि जिससे भावी-संतति, और आनेवाले युग के लोग उस खोज का लाभ उठा सकें। इन्हीं प्रेरणाओं और साहस के आधार पर आज का मानव इतना विकसित हो सका है।

आइए, आज हम विश्व के अनेकानेक गिरि-शृंगों का अध्ययन करें कि जिन तक मनुष्य के चरण पहुँच चुके है, अथवा जहाँ पहुँचने के लिए आज भी मनुष्य ज्यों-का-त्यों लालायित है।

विश्व-भर में सर्वोच्च गिरि-शृंग गौरीशंकर है। गौरीशंकर को अंग्रेजी में माऊंट एवरैस्ट कहते है। अनुमाप विभाग के सर जॉर्ज एवरैस्ट ने सर्वप्रथम इसकी ऊँचाई नापी थी और उन्हीं के नाम पर गौरीशंकर को माऊंट एवरैस्ट की संज्ञा दे दी गई। भारत के उत्तर में लगभग १५६३ मील लम्बे एवं १७५ मील चौड़े विश्व-ख्यात हिमालय की यह सबसे ऊँची चोटी है, जिसकी ऊँचाई २९,२४० फुट है। उन्नीसवी सदी तक योरोपवासी इस महान् गिरि-शृंग से अपरिचित थे। इसके चारों ओर अनेकानेक ऊँची-ऊँची चोटियाँ है। गौरीशंकर समुद्र-तल से लगभग ६ मील ऊँचा होने पर भी भारत से केवल दो या तीन स्थानों से ही दिखाई देता है।

यद्यपि गौरीशंकर की चोटी भारत से दिखाई दे जाती है, तथापि यह तिब्बत और नेपाल—दो देशों के सीमांतों पर स्थिर है। चिर

काल तक योरोपवासियों को इन देशों में खोज के उद्देश्य से जाने की मनाही थी। किन्तु अंततः, १९२१ में अंग्रेज पर्वतारोहियों को एवरैस्ट का पर्यवेक्षण करने की अनुमति मिल गयी। इस अनुमति के साथ इस बात की भी स्वीकृति दी गयी कि यदि संभव हो, तो वह उसके शिखर पर भी पहुँच सकते हैं। इस यात्रा द्वारा आश्चर्यजनक बातें प्रकाश में आयीं, सहस्रों वर्गमील भूमि के मानचित्र बनाये गये और व्यापारिक जन-प्रदेशों की खोज की गयी। जैसे-जैसे ये पर्यटक ऊपर-ऊपर गये, उन्हें कई प्रकार की जलवायु देखने को मिली। कई घाटियों में उष्ण, जंगल और रेतीले मरुस्थल थे; माध्यमिक ऊँचाइयों में उन्हें शीत-प्रधान जलवायु देखने को मिली, और पर्वत-शिखरों पर केवल बरफ-ही-बरफ।

आरोहियों का यह दल चोटी से लगभग एक मील के अंतर तक पहुँच गया, और उसके बाद उसे लौटना पड़ा। उपरांत, १९२२ में एक अन्य दल चला और अनंत चेष्टाओं के बाद केवल २७,३०० फुट तक पहुँच सका। इस महान् ऊँचाई पर हवा इतनी तरल हो जाती है कि इन आरोहियों को अपने साथ ऑक्सीजन (ओपजन) की पूर्त्ति के लिए यंत्र ले जाने होते हैं। उनकी अन्य अनिवार्य सामग्री के अतिरिक्त यह और भी भयंकर बोझा है कि जिसके साथ आरोही को चढ़ना पड़ता है। २१ हजार और २५ हजार ५०० फुट की ऊँचाई पर निरंतर पाँच रातें बिताने के बाद आरोहियों के इस दल को भी आगे बढ़ना स्थगित करना पड़ा, क्योंकि बरसात आरम्भ हो गयी थी। इसके बाद १९२४ में पुनः चेष्टा की गयी और आरोहियों में से दो साहसी आरोहियों—मैलोरी और हॉरविन को २८,२२७ फुट की ऊँचाई पर देखा गया—अर्थात् शिखर से लगभग १,०१३ फुट की निचाई पर। जो भी हो, उन दोनों को

मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा और इस बात का पूर्णतया निश्चय नहीं हो सका कि वस्तुतः वह ऊँचाई तक पहुँचे भी थे या नहीं। अप्रैल, १९३३ में दो हवाई जहाजों द्वारा होस्टन-माऊंट एवरैस्ट उड़ान की गई। इन हवाई जहाजों ने ६½ मील की ऊँची उड़ान से आश्चर्यजनक चित्र लिये। इसी वर्ष के ग्रीष्मकाल में मि० हृग रटलैज के नेतृत्व से एक अन्य दल ने मानव-चरणों द्वारा अछूते प्रदेश के शिखर पर पहुँचने की कई चेष्टाएँ कीं। तीन बार वह बढ़े और तीनों बार उन्हें बर्फीली चट्टानों ने पीछे ढकेल दिया। और अन्ततः, यह दल जुलाई में २८ हजार की ऊँचाई तक पहुँच गया। उपरांत, विपरीत मौसम के कारण उन्होंने इस यत्न को यहीं छोड़ दिया। तीन वर्ष बाद, १९३८ में मि० रटलैज ने पुनः चेष्टा की, किन्तु विपरीत परिस्थितियों के कारण आरोहियों को अपनी इच्छाओं को अपूर्ण ही रखना पड़ा।

१९५० में एक फ्रांसीसी दल ने हिमालय के एक शिखर अन्नपूर्णा को (२६,४९६) विजयी करने का निश्चय किया। नेपाल महाराज की आज्ञा प्राप्त करके फ्रांसीसी पर्वत-आरोहियों ने कमर कसी। फ्रांसीसी सरकार ने एक-तिहाई खर्च देना स्वीकार किया।

१०० प्रार्थियों में से ९ चुने गये। उनके नेतृत्व के लिए चुने गए श्री मॉरिस हर्जोग—३१ वर्ष के एक इंजीनियर, एल्प्स की चढ़ाई के अनुभवी। ९ मे से ५ तो और भी छोटे—२० वर्ष की आयु के आस-पास के ही लुई लेक्नल, लियोनल टेरे, गेस्टन रेबक, जीन काउजी और मारसल साट्ज—सभी चतुर पर्वतारोही थे। टुकड़ी में डाक्टर जेम्स आउक्टेदोत, फोटोग्राफर मारसस इचाक् और यातायात के प्रबन्धक फ्रांसिस-द-नोयल भी थे।

१९५० के अप्रैल के मध्य में यह टोली नेपाल की सीमा से विदा हुई। खच्चरों व शेरपाओं की पीठ पर आवश्यक सामान का एक

सौ मन वज़न लादकर चढ़ाई शुरू कर दी गई। उनके सामने था अजेय हिमालय पर्वत। ज्यों-ज्यों हिमालय की वह 'बड़ी भीत' समीप आती गई, अन्नपूर्णा का शिखर सुदूर के कोहरों में प्रकट होता दर्शन देने लगा।

अन्नपूर्णा की चढ़ाई उत्तर-पश्चिम की ओर से सम्भव थी। उसी ओर अन्नपूर्णा के चरणों में ग्लेशियर पर सब सामान एकत्रित किया गया। सिर पर सामने थी दो मील ऊँचे बरफ की एक पंक्ति के बाद दूसरी पंक्ति, एक चोटी के बाद दूसरी चोटी।

उस पर्वत-प्रदेश में विभिन्न कैम्प स्थापित करने का काम कितना कठिन था। नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे आवश्यक सामग्री, खाद्य-पदार्थ, तम्बू, सोने के थैले, कपड़े आदि लाते-ले जाते कमर टूटी जा रही थी। और अभी तो चढ़ाई बाकी ही थी।

पहला पड़ाव नीचे से २,००० फुट की ऊँचाई पर डाला गया, दूसरा और १,५०० फुट ऊपर। सामान ढोया जा रहा था, इसी बीच हर्जोग ने तीसरे पड़ाव को चुना २१,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित एक ग्लेशियर को।

मौसम अनुकूल था। चढ़ाई में कोई विशेष कठिनाई सामने नहीं थी; किन्तु पहाड़ी ढलानों से टूटकर गिरती हुई बरफ का बड़ा ख़तरा था। टेरे की रिपोर्ट का यह अंश देखिये :

"तीसरे पड़ाव पर मैंने और मेरे दो मजदूरों ने भयानक रात बितायी। दूसरा तम्बू, जो एक थैले में वहाँ मिलना चाहिए था, मिला ही नहीं। उस नन्हें से तम्बू में हम तीनों एक दूसरे के ऊपर पड़े थे और दोनों ओर बरफ टूट-टूट कर फिसलने से रात भयानक बनी जा रही थी।"

अगला पड़ाव स्थापित हो सकने के पहले मौसम बहुत खराब हो

करते पाया। अब तक हर्जोग के हाथ और लेक्नल के पाँव सर्द होकर जम चुके थे। दोनों की सुश्रूषा रात भर की गयी, खून का बहाव कुछ लौटा।

दूसरे दिन, चारों चौथे पड़ाव की ओर लौटे। प्रातःकाल से ही तूफान जोर पर था। डरा उफनते-बरसते बरफ के तांडव में रास्ते के सारे निशान लापता थे। वे चारों भूलते-भटकते परेशान थे। अँधेरा बढ़ने लगा। उस भयानक सर्दी में हिमालय की चोटी पर खुले पड़े रहकर रात काटने की घातक संभावना उनके सामने थी। अचानक लेक्नल आँखों के आगे से गायब हो गया। सिर्फ उसकी आवाज सुनाई दी कि जहाँ वह गिरा है, वह कुछ ही गज नीचे गिरा था, वहाँ एक दराड़ है, कड़ा आँगन है, दोनों ओर से हवा के थपेड़ों का भी बचाव है।

सभी उस दराड़ में नीचे उतर गये। जैसे-तैसे करके उसमें बसेरा लेने लगे—रात बिताने के लिए।

ठंड हड्डियों को कँपा रही थी, जूतों में पाँव जमें जा रहे थे। एक थैले में पाँवों को भरकर एक-दूसरे के ऊपर लुढक गये, जिससे जितने गरम रह सकें, रहें। वह भयानक रात भी किसी प्रकार बीती ही। अचानक, प्रातःकाल के कुछ पूर्व बहुत सी बरफ ने उन्हें धर दबाया।

भयातुर और ठंड से अकड़े हुए वे मुश्किल से बरफ से छूट पाये। किन्तु उनका सामान और सबसे अधिक आवश्यक उनके जूते बरफ में दबे रह गए। केवल मौजे पहने पाँवों से घंटे भर तक वे लोग बरफ खोदते रहे। जूते मिले, किन्तु तब तक हर्जोग और लेक्नल के पाँव निष्प्राण हो चुके थे और हर्जोग के हाथ भी जमकर सर्द हो गये थे। टेरे और रेबफ भी पाले के मारे जमे जा रहे थे। चारों आंशिक

रूप से अल्ट्रा-वायलेंट किरणों के कारण हिमांध भी हो रहे थे—उन्हें पिछले दिन, वरफ के तूफान में रास्ता ढूँढ़ने के लिए अपने चश्मे हटा देने पड़े थे।

हारे और खोये वे खड़े थे, किन्तु उनके पाँव उनका बोझा सँभालने में असमर्थ थे। प्रकाश की उस चमकती कटार के सामने वे पलकें भी नहीं उघार सकते थे। लेक्नल और रेवफ ऐसी जगह जाकर खड़े हुए, जहाँ से देखे जा सकें। सहायता के लिए वे चिल्लाये। आश्चर्य है, वे देखे और सुने गए, ४,००० फीट नीचे, और दूसरे पड़ाव से फोटोग्राफर इचाक के द्वारा, किन्तु चौथे पड़ाव से, जो कुछ ही फासले पर था, न वे देखे जा सके, न सुने—कारण उनके और पड़ाव के बीच में मोटी वर्फीली दीवार थी। सभी चिल्लाये, कोई उत्तर नहीं मिला। पाँव घसीटते वे नीचे वढ़े।

चौथे से दूसरे पड़ाव तक पहुँचने में एक दिन लगा। जिन चार ने रात खुले में वितायी उनमें से टेरे और रेवफ वच गये, किन्तु हर्जोग और लेक्नल के पाँवों की अँगुलियाँ नीली पड़ गयीं—हर्जोग के तो पाँव की आधी तलेटी भी। उसके कोहनी तक हाथों की चमड़ी उतर गयी थी और पहुँचे तक हाथों में जान नहीं रह गयी थी। डाक्टर आउक्टेदोत के लिए वहुत परिश्रम का काम सामने था।

नीचे उतरना जरूरी था, वरसात दौड़ी आ रही थी। जो कुछ पास था, उससे वरफ पर फिसलनी स्लैज वनायी गयी, घायलों को उसमें सुलाया गया।

१० जून को सव तलहटी के पड़ाव में पहुँचकर जमा हुए। हिमालय की उस ऊँची चोटी पर—जिस पर पहले कभी आज का मनुष्य नहीं चढ़ पाया, चढ़ने की विजय मनायी गयी—फ्रांस से लायी शराव की एक वोतल से!

दूसरे दिन पहली बरसात आ पहुँची। नीचे पानी बरस रहा था, ऊपर अन्नपूर्णा के हिमखंड टूट-टूट कर बरस रहे थे। एक दुर्दमन पर विजय पाकर, विजयी अपनी विजय की स्मृति लेकर लौट गये और वह दुर्दमन पुनः उसी प्रकार गर्जन करने लगा।

एक महीने तक जंगलों को पार कर आरोहियों की वह टुकड़ी भारत लौटी। हर्जोंग और लेक्नल को अपनी विजय की कीमत चुकानी पड़ी। लेक्नल को पांवों की अँगुलियाँ और हर्जोंग को हाथों और पांवों की अँगुलियाँ कटवा देनी पड़ीं।

× × ×

एक आगन्तुक ने हर्जोंग से पूछा था—"क्या यह सब करना जरूरी था ?"

हर्जोंग का उत्तर था केवल एक मुसकान! यह आवश्यक प्रश्न था। उसके लिए और उसके साथियों के लिए यह सब कष्ट और बलिदान सहना अवश्य जरूरी ही जैसा था। यह काम बहादुरों का है। एक निश्चित उद्देश्य के लिए हिम्मत के साथ सब प्रकार के कष्ट सहने को तत्पर रहने वालों की यह प्रशंसनीय गाथा है। यह गाथा है उनकी, जो सुख-सुविधा में रहकर जीवन बिताना नहीं चाहते, यह गाथा है उनकी, जो विजय के लिए लालायित है—अपने साथी मानवों पर नहीं किन्तु उनसे भी महान् प्रकृति पर, पृथ्वी पर, विश्व पर!

इतनी चेष्टाओ एवं आपत्तियों की विद्यमानता में भी पर्वतारोहियों की दिलचस्पी का केन्द्र अभी हिमालय है। हिमालय की पर्वतमालाओं में लगभग ७० शिखर हैं, जो २५ हजार फुट से अधिक ऊँचे हैं। १९३१ तक, इनमें से केवल एक शिखर को विजय किया जा सका था। उसी वर्ष एक अन्य कामत शिखर पर भी विजय पा ली गयी थी। और तीन वर्ष बाद इन दोनों से ऊँचे शिखर नंदादेवी पर विजय

पा ली गयी, जो २५,६६० फुट ऊँचा है। १९५० की विजय का वर्णन ऊपर दिया ही गया है। अन्य सभी गिरि-शृङ्ग अभी मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं, और गौरीशंकर का सर्वोच्च शिखर सफल-मानव के स्वागत की प्रतीक्षा में शान्त एवं मौन स्थिर है।

इसके बाद स्विट्जरलैण्ड में एल्प्स की ख्यात पर्वत-मालाएँ हैं, जो गौरीशंकर जितनी ऊँची तो नहीं किन्तु आरोहियों के लिए उतनी ही मनोरंजक हैं। एल्प्स की पर्वतमाला में ब्लैंक का शिखर सर्वोच्च है (१५,२१५ फुट), समुद्र-तट से लगभग ३ मील से अधिक ऊँचा। १७८६ में पहले-पहल दो फ्रांसीसी पर्वतारोहियों ने चढ़ाई की थी और अगले ही वर्ष एक अन्य फ्रांसीसी इसके शिखर पर पहुँच गया था। अब तो इस गिरि-शृङ्ग का मार्ग सर्वथा परिचित-सा हो गया है और प्रति वर्ष कई दल जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इसकी एक चोटी तक तार की रेल भी जाती है, जहाँ से उच्चतम शिखर बहुत निकट है।

स्विट्जरलैण्ड का एक अन्य जंगफ्रू पर्वत है, जिसके शिखर पर से सूर्योदय के दृश्य को देखने के लिए देश-विदेशों के लोग वहाँ जाते हैं। इस पर्वत पर चढ़ना भी बहुत कठिन समझा जाता था, किन्तु अब वहाँ रेल बन गई है। एक अन्य तीसरा शिखर मैटर-हॉर्न है। इसे सबसे अन्त में विजयी किया गया था। १८६५ में चार अंग्रेजों का एक दल सफलतापूर्वक शिखर तक पहुँच गया, किन्तु लौटते समय तीन अंग्रेज तथा एक दर्शक बरफ की चट्टान से फिसले, तो चारों-के-चारों लापता हो गए।

विश्व के सर्वाधिक ख्यात एवं सुन्दर पर्वत-शिखरों में जापान का एक फ्यूजीयामा पर्वत-शिखर है। 'फ्यूजीयामा' का अर्थ है "अमर-पर्वत"। जापानी फ्यूजी को पवित्र मानते हैं और प्रतिवर्ष हजारों

जन इस शिखर की तीर्थ-यात्रा करते हैं। जापान की राजधानी टोकियो से ६० मील दक्षिण-पश्चिम की दिशा के मैदान में से फ्यूजी के एकाकी शिखर की उत्पत्ति हुई है। गौरीशंकर और माउण्ट ब्लैंक की भाँति यह पर्वत-मालाओं का अंग नहीं, और इसी कारण नीचे चारों ओर मैदान तथा बीचोंबीच उच्च-शिखर के कारण इसका सौन्दर्य दर्शनीय बन गया है।

इस पर्वत-शिखर की उत्पत्ति के विषय में जापानियों में कई लोक-कथाएं प्रचलित है। इनमें एक लोक-कथा इसकी उत्पत्ति समुद्र में से बतलाती है, तो एक अन्य लोक-कथा में बताया गया है कि यह किस प्रकार आकाश से नीचे उतारा गया। इनके अतिरिक्त, एक तीसरी और लोक-कथा है, जो कुछ-कुछ सत्य के निकट जान पड़ती है। कहा जाता है कि २८६ वर्ष ईसा-पूर्व (अथवा जापानियों के कथनानुसार उनके राज्य की स्थापना के २७६ वर्ष पश्चात्) एक रात की घटना है। उस मैदान के लोग सुख-निद्रा में सोये पड़े थे कि एकाएक भीषण ध्वनियों के कारण समस्त प्रदेश की निद्रा भंग हो गयी। रात भर यह भीषण ध्वनियाँ होती रहीं। भय के मारे कोई भी घर से नही निकला। प्रातः समय लोगों ने देखा कि उस मैदान में जितनी भी ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ थीं, वह सब गायब हो गयी है, और एकाकी शिखर फ्यूजीयामा एकाएक उत्पन्न हो गया है। यह शिखर सम्पूर्ण देश में सर्वोच्च था। इस नये पर्वत के शिखर में से आग और पत्थर निकलते थे। अब तो इस बात का अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि कबतक यह क्रम जारी रहा होगा। किन्तु इतना अवश्य है कि कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है।

किन्तु सत्य यह है कि फ्यूजी पर्वत-शिखर जापान के एक ज्वालामुखी स्रोत पर है। समय-समय पर ज्वालामुखी फटने के कारण

सम्भव है कि भूकम्प हुआ हो, जिससे आसपास की चट्टानें धरती में समा गयी हों, और यह पर्वत-शृङ्ग एकाकी ऊँचा रह गया हो। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पहले यह शिखर केवल सामान्य ऊँचाई का था। वर्तमान में फ्यूजी १२,३७० फुट ऊँचा है और उसके आधार का घेरा लगभग २० मील है। इस घेरे के किनारे फूल की वाहरी पंखुड़ियों की भाँति उभरे हुए हैं और वीचोंवीच ऊँचा शिखर है, जो वर्ष में दस मास वरफ से ढका रहता है। उन दिनों इसका सौन्दर्य देखने योग्य होता है।

इसी प्रकार की एकाकी ऊँची चोटी अफ्रीका में भी है, जिसका नाम किलीमंजरो है। इसमें से भी ज्वालामुखी फटता रहता है। अफ्रीकी पर्वत-मालाओं में रूवेंजोरी पर्वत-मालाएँ सर्वाधिक मनोरम हैं। प्राचीन काल में उन्हें "चंद्र-पर्वत" के नाम से पुकारा जाता था। ये "चंद्र-पर्वत" नील नदी के उद्गम-स्थान हैं। उन्नीसवीं सदी के अन्त में हेनरी स्टेनले ने इन स्रोतों की खोज की थी।

दक्षिणी अमरीका की एंडीज पर्वत-मालाओं में भी हिमालय की तरह अनेक ऊँचे-ऊँचे शिखर हैं किन्तु गौरीशंकर या नंदादेवी जैसा कोई नहीं। शिवोरजो नाम का शिखर २० हजार फुट ऊँचा है और इस पर सदैव वरफ पड़ी रहती है। एक अन्य शिखर कोटोपाक्सी है, जो २० हजार फुट ऊँचा है। इसमें से भी ज्वालामुखी फटता रहता है, और सौन्दर्य में फ्यूजी के वाद द्वितीय स्थान पर है।

इस तरह इस अध्ययन से सहज ही पता चल जाता है कि जिस प्रकार पर्वतों के विषय में भारत सम्पन्न है, वैसा कोई भी देश विश्व में नहीं। इसके अतिरिक्त, प्रकृति ने हमारे देश के पर्वतों में विनाशकारी ज्वालामुखी को भी स्थान नहीं दिया। इसी से भारतीय-पर्वत सर्व-प्रकारेण समृद्धि के स्रोत है।

सुदूर-पूर्व में भारतीय संस्कृति

ईसा की प्रथम पांच सदियों के भारत का अध्ययन करने पर ज्ञात पड़ता है कि भारत कृषि, उद्योग, शिक्षा, व्यापार, स्वास्थ्य इत्यादि सभी दिशाओं मे सब भांति सम्पन्न था। इस काल में पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के साथ भारत का नियमित रूप से व्यापारिक याता-यात था। बंगाल की खाड़ी के बीच पोत चलते थे। बंगाल में आधुनिक तामलूक उस काल का विख्यात ताम्रलिप्ति बन्दरगाह था। इतिहास मे इस बन्दर से चीनी बन्दरगाहों तक की अनेक यात्राओं के विवरण मिलते हैं। कलिंग और तामिल राज्यों के लोगों का इन आवागमनों में बहुत बड़ा भाग था। भारत के पूर्वी समुद्र-तट तथा समुद्र-पार के भारतीय उपनिवेशों के बीच व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। इसी प्रकार भारत के पश्चिमी समुद्र-तट और पश्चिमी एशिया, अफ्रीका तथा योरोप आदि पश्चिमी देशों के बीच वृहद् परिमाण में व्यापार था। फा-हीन ने, जो ईसा की पाँचवी शती में भारत आया था, भारतीय पोत द्वारा ताम्रलिप्ति बन्दर से लंका की राह जावा, और जावा से चीन तक की यात्रा की थी। ह्य एन्तसांग ने भी भारत के आंतरिक एवं बाहरी व्यापार का उल्लेख किया है। सौराष्ट्र का उल्लेख करते हुए वह लिखता है, "यहाँ के अधिवासी समुद्र द्वारा जीविका-उपार्जन करते हैं और व्यापार तथा जिन्सों के विनिमय में नियोजित है।" इन व्यापारिक कार्य-कलापों का अनेक खुदाइयों द्वारा समर्थन हुआ है। वैशाली के प्राचीन नगर की खुदाई द्वारा उपलब्ध वस्तुओं से पता चलता है कि हमारे देश में अनेक व्यापारी, महाजन तथा साहूकार थे। एक विद्वान् डा० ब्लोश तो यहाँ तक कहते हैं कि उत्तर भारत में आधुनिक ढंग जैसा व्यापारमंडल था, और वह संभवतः पाटलिपुत्र में था।

कहने का तात्पर्य यह है कि देश-विदेशों के साथ व्यापारिक आदान-प्रदान तथा यातायात के साधनों से ही किसी देश की संस्कृति एवं सभ्यता का आदान-प्रदान होता है। इसमें संदेह नहीं कि ११वीं शती (ई०) में हिंदू समाज में उत्पन्न हुई संकीर्णता ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को बुरी तरह पीछे की ओर ढकेला। और इस संकीर्णता का सबसे महान् कारण हमारी हिंदू समाज की वर्ण-व्यवस्था थी, जो आज भी उतनी उग्र तो नहीं, किन्तु उसका व्याप्त रूप अवश्य है। ग्यारहवी शती की संकीर्णता का तो फल यह हुआ कि लोगों ने समुद्र-पार का व्यापार तथा यातायात तक सर्वथा त्याग दिया था। और उपरान्त का भारत अथवा हिंदू-समाज कूप-मंडूक की स्थिति में रह गया। यह कूप-मंडूक स्थिति इसीलिए तो हुई कि हमारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान नष्ट हो गया। वर्तमान में जब यह कहा जाता है कि अमुक देश उन्नति के शिखर पर है, तो इस उन्नति में देश का व्यापारिक आदान-प्रदान सबसे प्रथम सम्मुख आता है। व्यापारिक आधार पर ही उद्योगों की उन्नति निर्भर है और संस्कृति एवं सभ्यता का विकास भी।

तदनुसार, हम प्राचीन काल के हिंदू प्रवासियों के कार्यो का साररूप में उल्लेख करते हैं कि जिन्होंने सुदूर-पूर्व में भारतीय कला, साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के प्रसार का साहसपूर्ण कार्य किया।

ईसा की पाँचवीं सदी में कहा जाता है कि भारतीयों ने मलय (मलाया) प्रायद्वीप में कई राज्यों की स्थापना की। यद्यपि इन राज्यों का शृङ्खलाबद्ध ऐतिहासिक रूप तो प्राप्य नहीं तथापि चीनी आलेखों तथा इस देश में जहाँ-तहाँ मन्दिरों के भग्न-अवशेषों से उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि भारतीय सुदूर-पूर्व में औपनिवेशिक-विस्तार के लिए मलय प्रायद्वीप मुख्य-

द्वार से निकलकर भारतीय-व्यापारी तथा प्रवासी सर्व-प्रथम तकुआ पा पर उतरते थे। इस स्थान से कुछ लोग समुद्र-तट के मार्ग पर निकलकर जाते और अधिकांश बन्दन की खाड़ी से होते हुए और पूर्व को बढ़ जाते और स्याम, कम्बोडिया तथा अन्नाम को चले जाते। आज भी तकुआ पा के निकट पश्चिमी तट पर भारतीयों से मिलती-जुलती शक्लें सामान्यत: देखने मे आती हैं। इसके अतिरिक्त, नाखोन श्रीधम्मरत और पतालुंग में भारतीय ब्राह्मण है, जिनके पूर्वज मलय प्रायद्वीप के भूमि-मार्ग से वहां पहुँचे थे।

इस तथ्य का ऐतिहासिक प्रमाण है कि पांचवीं सदी में पूर्णवर्मन नाम का राजा पश्चिमी जावा में राज्य करता था। २ या ३ सदियों के वाद संजय ने जावा में शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। चतुर्थ सदी मे श्रीविजय ने अपना राज्य स्थापित किया था।

ईसा की आठवी सदी में मलय प्रायद्वीप, जावा और सुमात्रा—इन सव राज्यों को शैलेद्र सम्राट् वालपुत्र देव ने जीत लिया था। शैलेंद्रों का प्राय: सम्पूर्ण सुवर्ण-द्वीप पर अधिकार हो गया था। सुवर्ण-द्वीप में मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, वाली, वोर्नियो तथा अन्य पूर्वी द्वीप-समूह सम्मिलित थे। कई अरव लेखकों ने शैलेंद्र सम्राट् के विस्तृत राज्य का उल्लेख किया है। उन्होने सम्राट् के राज्य की परिभापा करते हुए लिखा है कि : "जिसका राज्य इतने द्वीपसमूह में विस्तृत हो कि उसका ओर-छोर नापने के लिए तीव्र गति से चलने वाले जहाज को दो वर्प लग जायँ।" शैलेंद्र वौद्ध-धर्म के अनुयायी थे।

वर्तमान अन्नाम में, जो हिन्द-चीन के पूर्वी तट पर स्थित है, दूसरी या तीसरी सदी (ई०) में एक हिंदू राज्य की स्थापना हुई थी। इस राज्य का मुख्य नगर चम्पा था, जिसके नाम पर अनन्तर संपूर्ण प्रदेश का नाम ख्यात हुआ। इसी प्रकार तीसरी शती (ई०) मे

कौण्डिण्य नामक ब्राह्मण ने कम्बोडिया में कम्बुज नामक हिन्दू राज्य की स्थापना की। वह भारत से आया था और उसने वहाँ की रानी को अधिकार में करके उसके साथ विवाह कर लिया था। इस देश के अधिवासी अर्ध-जंगली थे और स्त्री-पुरुष नंगे रहते थे। किन्तु धीरे-धीरे हिंदू नरेशों ने उन्हें सभ्य वना दिया। इन नरेशों ने संपूर्ण कम्बोडिया और कोचीन-चीन पर अधिकार कर लिया था और उनमें से कुछ ने तो स्याम तथा लाओस और मलय प्रायद्वीप के कुछ भागों पर अधिकार करके हिन्द-चीन में प्रथम हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। इन राजाओं के चीन और भारत के साथ कूट-नीतिक सम्बन्ध थे। ईसा की छठी शती तक जयवर्मन तथा रुद्रवर्मन ने राज्य किया। उपरान्त सातवीं शती में कम्वुज वहुत शक्तिशाली राज्य वन गया और सारा देश कम्वुज नाम से ख्यात हुआ। आठवीं सदी में कुछ समय के लिए कम्वुज शैलेंद्रों के अधिकार में हो गया। किन्तु जयवर्मन द्वितीय ने नवीं सदी के आरम्भ में इस प्रदेश को पुनः स्वतन्त्र कर लिया। कम्वोडिया में यह शासक महानतम माना जाता था। इसके शासन-काल में कम्बुज राज्य का क्षेत्र सम्पूर्ण केन्द्रीय हिंद-चीन तथा दक्षिणी चीन में यून्नान तक था।

जयवर्मन द्वितीय के वाद यशोवर्मन राजा के राज्य-काल में इस प्रदेश ने महान् उन्नति की। यशोवर्मन स्वयं संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान था। उसने अनेक काव्यों तथा शास्त्रों का अध्ययन किया था। पातंजलि के महाभाष्य की उसने टीका भी की थी। उसने कम्वुज प्रदेश में अनेक मन्दिर और आश्रम वनवाये थे। संपूर्ण देश का सामाजिक एवं धार्मिक जीवन हिन्दूमय था। इसने कम्वुजपुरी के नाम से नई राजधानी वसाई, जिसका वाद में यशोधरपुर नाम हुआ (वर्तमान में अंकोर टाम)। इसके पिता इंद्रवर्मन के काल में

चीन, चम्पा, और यवद्वीप (जावा) के नरेश भी उसके आदेश को सम्मानपूर्वक स्वीकार करते थे।

उपरान्त, आगामी राजवंश के संस्थापक सूर्यवर्मन प्रथम ने उत्तरीय स्याम को कम्बुज के अधीन किया और यहाँ तक कि लोअर बर्मा तक पर भी संभवतः आक्रमण किया। इसके वाद सूर्यवर्मन द्वितीय का राज्य तो लोअर वर्मा और मलय प्रायद्वीपों के उत्तरी भाग तक फैल चुका था। दूसरी ओर सूर्यवर्मन की मृत्यु के उपरान्त चम्पा के साथ युद्ध जारी था। फलतः चम्पा के राजा जयइंद्रवर्मन ने ११७७ में समुद्र-सेना (जहाजी वेड़े के साथ) कम्वुज की राजधानी को लूटने के लिए भेजी। उसने राजधानी को लूट लिया, किन्तु ११८१ में जयवर्मन सप्तम के सिहासनारूढ़ होने पर कम्बुज का सितारा पुनः चमका। उसने चम्पा को कम्बुज के अधीन किया। इसने अन्नामियो के साथ भी युद्ध किया और लोअर बर्मा का बहुत सा भाग अधिकृत कर लिया।

जयवर्मन सप्तम ने अपनी राजधानी का नया नगर बसाया। इस नगर के चारों ओर पत्थर की ऊँची दीवार थी और दीवार के बाहर ११० गज चौड़ी खाई थी। इस दीवार और खाई की कुल लम्बाई साढ़े आठ मील थी। नगर-प्रवेश के लिये ५ द्वार थे, जो ३० फुट ऊँचे एवं १५ फुट लम्बे थे। यह नगर वर्गाकार था, जिसका प्रत्येक पक्ष २ मील लम्बा था। इन प्रवेश-द्वारों से निकलने वाले मार्ग १००-१०० फुट चौड़े थे, जो नगर के एक छोर से दूसरे छोर तक सीधे जाते थे। ये सब मार्ग बयोन के मन्दिर तक पहुँचते थे जो कि शहर के ठीक मध्य में था। यह स्थान ७६५ गज लम्बा और १६५ गज चौड़ा था। इस राजा की धर्म में अत्यधिक निष्ठा थी। इसके द्वारा निर्मित एक मन्दिर में ६६,६२५

व्यक्ति मन्दिर की सेवा के लिए नियोजित थे। इसके व्यय के लिए ३,४०० ग्राम दिये गये थे। इसमें ४३९ अध्यापक थे और ९७० शिक्षार्थी। इस प्रकार इन १,४०९ व्यक्तियों की भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताएँ नित्य-प्रति पूर्ण की जाती थीं। सब मिला कर यहाँ ५६६ पत्थर के तथा २८८ ईंटों के बने मकान थे। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण राज्य में ७९८ मन्दिर, १०२ अस्पताल थे। इन मन्दिरों तथा अस्पतालों को प्रति वर्ष १,१७,२०० खरिका चावल दिये जाते थे। एक खरिका ३ मन ८ सेर के बराबर होती है। जयवर्मन सप्तम ने यात्रियों के लिए आज जैसी धर्मशालाओं की भाँति १२१ आश्रय-स्थान बनवाये थे। ये आश्रय-स्थान यात्रियों की सुविधा के लिए राज-मार्गों पर बनवाये गये थे।

इसके उपरान्त समयान्तर कम्बुज का ह्रास हुआ और अन्य अनेक राजवंश इन प्रदेशों में राज्य करते रहे। अब हम राज्य-विस्तार के अधिक विवरण को यहाँ छोड़कर आपको सुदूर-पूर्व के इन प्रदेशों की संस्कृति एवं सभ्यता का दिग्दर्शन कराते हैं।

सुदूर-पूर्व में भारतीय संस्कृति और सभ्यता—सुदूर-पूर्व के इन प्रदेशों में जाने वाले भारतीयों के सम्पर्क में नग्न अवस्था में रहने वाले अर्ध-जंगली (कम्बोडिया) अधिवासियों से लेकर जावा के लोग तक आये कि जो असभ्यता के प्रथम चरण को पार कर चुके थे। सभी को भारतीय सभ्यता ने आकर्षित किया और वह उसमें लीन हो गये। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, कला और राजनीतिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं ने इन प्रदेशों के अधिवासियों को अधिकृत कर लिया था।

बर्मा, स्याम, मलय प्रायद्वीप, कम्बोडिया, अन्नाम, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो में संस्कृत में लिखे आलेख प्राप्त हुए हैं। संस्कृत

से उत्पन्न पाली आज भी हिन्द-चीन के अधिकांश भाग में नित्य-प्रति के प्रयोग में आती है। चम्पा में एक सौ से अधिक संस्कृत आलेख प्राप्त हुए है। इसी प्रकार कंबुज में भी मिले है कि जो भारतीय काव्य-प्रणाली के अनुरूप हैं। इस विषय में भी संकेत प्राप्त हुए हैं कि वेद, वेदान्त, स्मृति तथा ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थों और बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था। काव्यों, पुराणों, पाणिनी के व्याकरण का पातंजलि के महाभाष्य के साथ, तथा मनु, वात्स्यायन, प्रवरसेन, मयूर और गुणाढ्य की रचनाओं का भी अध्य-यन होता था। कालिदास की रचनाओं का तो इतना प्रभाव जान पड़ता है कि आलेख में रघुवंश के चार पदों की स्पष्ट प्रतिध्वनि दिखाई देती है।

जावा के लोगों ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने के साथ ही उसमें से एक साहित्य निर्माण भी किया था। इस साहित्य की भाषा जावाई है और उसमें संस्कृत शब्दों का अत्यधिक मिश्रण है। इसकी कविता में संस्कृत छदों का प्रयोग किया गया है। इनमें रामायण तथा महाभारत का गद्यानुवाद उल्लेखनीय है। इसके अति-रिक्त स्मृतियों एवं पुराणों और इतिहास, भाषा-विज्ञान तथा औष-धियों की दिशा में भी भारतीय आधार पर प्रशंसनीय कार्य हुआ था। सारांश यह कि भारत के बाहर भारतीय साहित्य का जितना अध्ययन इन प्रदेशों में हुआ, अन्यत्र कही नहीं हुआ।

धर्म—पूर्व-कथित सब उपनिवेशों के अधिवासियों में भारतीय धर्मो तथा परम्पराओं का चलन था। बर्मा और स्याम में बौद्ध धर्म का प्रभुत्व था किंतु शेष उपनिवेशों में पौराणिक धर्म का बोल-बाला था। सर्वत्र हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई है। समस्त जावा में पीतल और पत्थर की बनी हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ

मिलती हैं। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा का सर्वत्र चलन था तथापि शिव-पूजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। उसके बाद विष्णु का स्थान था और ब्रह्मा का भारत की तरह ही कम पूजन होता था। जावा में एक अन्य लोक-प्रिय मूर्त्ति है, जिसे भट्टार गुरु कहते हैं। यह दो बाहों की खड़ी मूर्त्ति है, जिसकी लम्बी-लम्बी मोंछ हैं और नोकीली दाढ़ी। यह एक वृद्ध की मूर्त्ति है, जिसका घड़े-सा पेट है और उसके हाथ में घट है। आलेखों से प्रकट होता है कि यह अगस्त्य मुनि की मूर्त्ति है, क्योंकि जावा में अगस्त्य ऋषि की बहुत पूजा की जाती थी। इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान दोनों रूपों का विकृत रूप प्रचलित था।

समाज—हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था भी अधिकांश उपनिवेशों में प्रचलित हो गई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों का रूप तो था ही, किन्तु भारत की तरह कठोरतापूर्वक उनका पालन नही होता था। अन्तर्जातीय भोज तथा अन्तर्जातीय विवाह होते थे। बाली और लोम्बक में आज भी उस व्यवस्था का रूप प्रचलित है। किन्तु सर्वाधिक संतोष का विषय यह है कि अस्पृश्यता ने यहाँ पाँव नहीं जमाया। भारत में तो वर्ण-व्यवस्था के कारण अस्पृश्यता ने इतना भीषण रूप धारण कर लिया था कि हिंदू समाज सर्वथा रसातल को चला गया। स्व० महर्षि दयानंद तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य-समाज, और अनन्तर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस अस्पृश्यता का विनाश करने के लिए क्या-कुछ नहीं किया। और, उससे भी अधिक प्रसन्नता की यह बात है कि वर्तमान भारतीय-संविधान ने तो उसको सर्वथा नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया है। सारांश यह कि अस्पृश्यता के कारण इन उपनिवेशों का समाज संगठित रहा, और चाहे जो भी वर्ण किसी भी व्यवसाय को अपना सकता था।

विवाहों, त्योहारों तथा अन्य कार्यों में भारतीय प्रथा का अनुसरण होता था। सती की भी यत्किंचित् प्रथा थी। किन्तु भारत की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक सम्मान होता था। पर्दा-प्रथा नहीं थी और स्त्रियां अपना पति स्वयं चुन सकती थीं। भारत की तरह ही मुर्गों की लड़ाई, संगीत, नृत्य और अभिनय मनोरंजन के साधन थे। कठपुतली का तमाशा तो जावा में बहुत ही लोकप्रिय था। इन कठपुतली के तमाशों की कहानियां रामायण तथा महाभारत के आधार पर होती थीं। वर्तमान में, जबकि जावा के लोग सब मुसलमान हैं, तब भी कठपुतली के तमाशों की कहानियां रामायण तथा महाभारत की ही हैं।

भारत की तरह यहां का खाद्य भी चावल और गेहूँ मुख्य था। पान खाया जाता था। वेश और आभूषण प्राचीन भारत जैसे थे।

कला—भारत की तरह ही, यहां की कला को भी धर्म की दासी कहा जा सकता है। इन उपनिवेशों में जो भी स्मारक प्राप्त हुए हैं, सब धार्मिक रूप के हैं। इन सब का प्रारम्भिक रूप भारतीय रहा है। जान पड़ता है कि उन्हें प्रारम्भिक काल में आने वाले भारतीय शिल्पियों ने निर्मित किया था। इन महत्त्वपूर्ण स्मारकों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जावा में बरबुदुर है, जिसे शैलेंद्रों ने ७५० से ८५० (ई०) के काल में बनवाया था। यह एक के ऊपर एक—नौ चबूतरों का है, जिसका सबसे ऊपर के चबूतरे में घड़ियाल के आकार का स्तूप है। प्रथम ६ चबूतरे वर्गाकार है, जबकि ऊपर के तीन गोल। सब से नीचे का चबूतरा १३१ गज लम्बा है, और सबसे ऊपर वाले का घेरा ३० गज। तीन ऊपरी चबूतरों की गोलाई में स्तूपों की पंक्ति है, और प्रत्येक स्तूप मे भगवान बुद्ध की मूर्त्ति खुदी हुई है। नौवें

चबूतरे पर से स्तूप के शिखर तक जाने के लिए गोलाकार सीढ़ियाँ हैं। हर चबूतरे पर जंगला है, और जंगले में पत्थर की खुदाई द्वारा चन्द्राकार आले हैं। इनमें बुद्ध की प्रतिमाएँ हैं। प्रत्येक दिशा में ऊपर की मंजिल में जाने के लिए एक-एक द्वार है। इन द्वारों पर कलापूर्ण कार्य किये गये हैं। सभी मंजिलों में खुदाई द्वारा भगवान बुद्ध का चरित्र तथा जातक-कथाएँ, इत्यादि खुदे हैं।

यद्यपि जावा में वरवुदुर की तुलना में कोई भी पौराणिक मंदिर नहीं है तथापि प्रम्वनन घाटी में लर-जोगरंग का समूह द्वितीय स्थान पर कहा जा सकता है। यहाँ मन्दिरों की अनेक पंक्तियाँ हैं, जिनमें सब मिला कर १५६ मन्दिर हैं। इनमें से तीन मुख्य मन्दिरों में एक सबसे बड़ा है, जिसमें शिव की मूर्त्ति स्थापित है। एक अन्य में विष्णु तथा तृतीय में ब्रह्मा। इनमें शिव-मन्दिर सबसे सुन्दर है। इसका आधार १० फुट ऊँचा तथा ६० फुट लम्बा है। इसके ऊपर एक चबूतरा है, जिस पर मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए ७ फुट चौड़ा मार्ग है। इसके चारों ओर जंगला है, जिसमें रामायण की संपूर्ण कथा को खुदाई द्वारा चित्रित किया गया है। इसी प्रकार कम्बुज के वृहद् स्मारक भी हैं, जो सौंदर्य और कला की दृष्टि से आकर्षक हैं।

उक्त विस्तृत विवरण से हमें सहज ज्ञान हो जाता है कि भारतीय प्राचीन काल से देश-विदेशों का परिभ्रमण करते रहे है। उनके भ्रमण का उद्देश्य केवल भ्रमण मात्र नहीं था, प्रत्युत उन देशों में व्यापार-लाभ और सभ्यता एवं संस्कृति तथा धर्म-प्रचार भी करना था। हमें विश्वास है कि ऐसे विवरणों के अध्ययन से भावी संतति को अपने चरित्र-निर्माण के लिए सद्प्रेरणा प्राप्त होगी।

अफ्रीका : अन्ध महाद्वीप

अफ्रीका महाद्वीप एशिया और योरोप दोनों महाद्वीपों के निकट है। प्राचीन काल से इस महाद्वीप का दोनों महाद्वीपों से सम्बन्ध रहता आया है। इस महाद्वीप का अधिक भूभाग एक विस्तृत मरुभूमि सहारा से घिरा हुआ है, जिससे उसके अन्तर्भाग का ज्ञान हो सकने में एक बड़ी कठिनाई रहती आई है, फिर भी कतिपय जातियों का उसके भीतरी भाग में प्रवेश करने का उल्लेख मिलता है। जिस समय फीनीशियन लोगों ने अपना व्यापार-क्षेत्र बहुत विस्तृत किया था, उस समय उन्हें अवश्य ही अफ्रीका के अन्तर्भाग का बहुत कुछ पता लग सका होगा। फलतः फीनीशियन लोगों के उपनिवेश कार्थेज की सेना में बहु-संख्यक हाथियों के होने का प्रमाण मिलता है। अफ्रीका के उत्तरी भाग में हाथी का निवास कहीं नहीं है, इस कारण वे सहारा के दक्षिण मध्य-अफ्रीका से अवश्य ही आये होंगे, इसके साथ ही फीनीशियन लोगों के उद्योग से मध्य-अफ्रीका से अन्य व्यापारिक वस्तुएँ भी उत्तरी अफ्रीका तक पहुँचती थीं। अतएव हमें अनुमान हो सकता है कि अफ्रीका के इन भागों का सभ्य संसार को ज्ञान रहा होगा।

परन्तु अफ्रीका के अन्तर्भाग के सम्बन्ध में इस प्रकार जितना ज्ञान हो सका था, वह आधुनिक युग में रक्षित न रह सका और उनके भीतरी भाग के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें सुनी जाती थीं। इन संदिग्ध बातों से संतोष न कर आधुनिक युग के अन्वेषकों ने यथार्थ ज्ञान करने के लिए भीषण-से-भीषण यात्राएँ कीं। उन्हीं यात्राओं में से कुछ प्रसिद्ध यात्राओं का यहाँ पर वर्णन किया जाता है।

बहुत दिनों तक इस बात का लोगों को यथार्थ ज्ञान न था कि मिस्र देश की प्रसिद्ध नदी नील का उद्‌गम कहाँ है। मिस्र प्राचीन काल में एक बड़ा ही सभ्य देश था। इस कारण यह अनुमान कर सकते हैं कि मिस्र वालों को इसके उद्‌गम का ज्ञान अवश्य होगा परन्तु नील नदी में उद्‌गम की ओर यात्रा कर सकना सुगम नहीं था। खार्तून नगर तक नदी नाव चलाने योग्य है परन्तु उसके आगे स्थान-स्थान पर विकट धाराएँ निकलती हैं। इसके साथ ही खार्तून नगर से नीचे ही नदी की घाटी विशेष उपजाऊ है। इस कारण मिस्र वालों ने भूमध्य सागर के तट के समीप और नील नदी के उपजाऊ भाग को छोड़कर विशेष आगे जाकर नदी के उद्‌गम का पता लगाने की आवश्यकता न समझी होगी। फलतः आधुनिक युग में अन्वेषण की दृष्टि से उसका पता लगाने का उद्योग किया गया।

खार्तून नगर के समीप नील नदी की मुख्य-धारा में उसकी एक सहायक नदी नीली-नील आकर मिलती है। नीली-नील का उद्‌गम-स्थान अबीसीनिया प्रदेश में है। जेम्स ब्रूस नाम के एक अंग्रेज ने मुख्य नील नदी का उद्‌गम स्थान खोजने के प्रयत्न में नीली-नील के उद्‌गम का ही अन्वेषण किया। यहाँ पर ब्रूस की यात्रा का संक्षिप्त वर्णन देना अनुचित न होगा।

ब्रूस स्काटलैंड का रहने वाला था। इसे यात्रा करने की बड़ी लालसा थी। इसने निश्चय किया था कि मैं नील नदी के उद्‌गम का पता लगाऊँगा। सौभाग्यवश उत्तरी अफ्रीका के अल्जियर्स नगर में इसे इंगलैंड के राजदूत का पद मिला। वहाँ पर उसने अपनी यात्रा में सुविधा प्राप्त होने के लिए दो वर्ष तक उन भाषाओं को सीखा, जो अफ्रीका में बोली जाती थीं। साथ ही उसने कुछ चिकित्सा-शास्त्र का भी अध्ययन किया। यात्रा की तैयारी हो जाने पर सन् १७६८

ई० में नील नदी के उद्गम की ओर नाव पर चलना प्रारम्भ किया, परन्तु कुछ दूर जाने पर ही एक व्यक्ति के परामर्श ने उसने नदी को छोड़कर लाल सागर के तट तक काफिले के साथ जाकर नौका द्वारा अवीसीनिया देश में पहुँचने का निश्चय किया, जहाँ से उद्गम तक सुगमतया यात्रा की जा सकती थी। अवीसीनिया तक पहुँचने में ब्रूस को कुछ कठिनाई हुई। एक स्थान पर एक मुसलमान राजा ने उसे मरवा डालना चाहा, परन्तु वहां से किसी प्रकार बच गया। जब वह अवीसीनिया की राजधानी गोंडार नगर मे पहुँचा तो वहाँ पर राजा के लड़के चेचक से ग्रस्त थे। ब्रूस ने खुली हवा और साबुन के साधारण प्रयोग से रोग दूर कर लेने में सफलता प्राप्त की। इस उपकार के बदले वह अवीसीनिया राज्य के एक सूबे का सूबे-दार नियुक्त कर दिया गया, परन्तु ब्रूस ने उससे छुटकारा पाकर नील नदी के उद्गम की ओर यात्रा की। जिस समय वह उद्गम की ओर यात्रा कर रहा था उसी समय एक दूसरे सरदार ने गोंडार पर आक्र-मण कर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु इस आक्रांता सरदार ने भी ब्रूस से मित्र-भाव प्रकट किया। अतएव, ब्रूस सकुशल अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच सका, परन्तु यह उद्गम नील नदी का नहीं, प्रत्युत उसकी सहायक नीली-नील का था। उद्गम स्थान को देखकर ब्रूस लौट पड़ा। मार्ग में उसे विशेष कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। ब्रूस ने जिस मुख्य उद्देश्य से यात्रा प्रारम्भ की थी वह पूर्ण नहीं हुआ। मुख्य नील के उद्गम का अन्वेषण बहुत पीछे कुछ अंग्रेज अन्वेषकों ने किया, परन्तु उसकी यात्रा से यह लाभ हुआ कि अफ्रीका के अंतर्भाग का अन्वेषण करने के लिए इंगलैंड में विशेष उत्सुकता उत्पन्न हुई। इसके परिणामस्वरूप अन्वेषण-कार्य के लिए धन जुटाने के निमित्त एक अफ्रीकन समिति की स्थापना हुई। इसी

समिति की ओर से मुंगोपार्क नाम के विख्यात अन्वेषक ने सन् १७९५ ई० में अफ्रीका के पश्चिमी भाग में नाइजर नदी के अन्वेषण के लिए यात्रा प्रारम्भ की। मुंगोपार्क स्काटलैंड का रहने वाला था। इसने भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि करने के लिए दो भीषण यात्राएँ कर मार्ग में ही मृत्यु का आलिंगन कर अपना नाम सदा के लिए अमर कर दिया। उन दिनों लोगों को अफ्रीका की कितनी ही नदियों के मार्ग का कुछ भी ज्ञान नहीं था। उन्हीं में से नाइजर नदी के उद्गम और मुहाने का पता लगाने के लिये मुंगोपार्क को अफ्रीकन समिति ने भेजा था।

मुंगोपार्क ने १७९५ ई० में गैम्बिया नदी के मुहाने से भीतर की ओर यात्रा की। वह स्वयं घोड़े पर सवार था और उसका सामान खच्चरों पर लदा था। उसके साथ दो हब्शी नौकर पैदल चल रहे थे। इनके अतिरिक्त कुछ और यात्री भी साथ मिल गये थे। कुछ दूर चलने के पश्चात् गैम्बिया नदी के तट पर मेडिना नाम का एक प्रसिद्ध नगर मिला। यहाँ के राजा ने मुंगोपार्क का स्वागत किया और आगे की यात्रा के लिए एक पथ-प्रदर्शक साथ कर दिया। आगे बढ़ने पर एक दूसरा नगर मिला, जहाँ का राजा डाकू था। उसको कुछ भेंट देकर मुंगो ने प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। राजा ने भेंट के साथ उसका छाता और सबसे बढ़िया कोट भी ले लिया। इसके बदले में उसे कुछ खाद्य-पदार्थ मिल सका। मुंगोपार्क की सफेद चमड़ी देख कर वहाँ वालों ने अनुमान किया कि बालकपन में नित्य दूध में डुबोये जाने से उसका ऐसा रंग हो गया है। इस नगर को छोड़ने के पश्चात् पार्क को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मार्ग में बराबर डाकुओं और जंगली जानवरों से मुठभेड़ होने का भय बना रहता। एक स्थान पर एक नगर के राजा द्वारा उनका सब खाद्य-

पदार्थ और धन लूट लिया गया। किसी प्रकार दिन काटकर पार्क ने सेनेगल नदी तक यात्रा की। सेनेगल नदी पार कर लेने पर कई राज्यों को पार कर मुंगोपार्क ने लुडुमार नामक राज्यमें प्रवेश किया, जिस पर मूर लोग राज्य करते थे। मूर लोग मुसलमान थे, इस कारण एक ईसाई यात्री का वे स्वागत नहीं कर सकते थे। फलतः पार्क बन्दी कर लिया गया और बीनाउन नामक स्थान में राजकीय पड़ाव पर लुडुमार के शासक अली के पास पहुँचाया गया। वहां पर उसे एक झोंपड़ी में रखा गया। उसके साथी की भाँति एक सूअर भी वहां बँधा था। पार्क से सभी बची हुई वस्तुएं छीन ली गई और उसके साथ कठोरता का व्यवहार होने लगा। उसे बार-बार मूर लोगों द्वारा अपमानित और दण्डित होकर समय बिताना पड़ा। इतनी आपदाओं को सहने के पश्चात् पार्क को मुक्ति का एक अवसर मिला। लुडुमार पर एक दूसरे सरदार ने आक्रमण कर दिया। इस अवसर से पार्क ने लाभ उठाया और वह वहाँ से भाग निकला। किसी प्रकार शत्रुओं के हाथ से निकलकर वह जगलों से भरे देश में अकेले पहुँचा, जहाँ न तो खाने के लिये मुट्ठी भर आहार था और न पीने के लिए एक चुल्लू पानी। चलते-चलते वह एक स्थान पर मूर्च्छित हो गया और वहीं पर उसकी मृत्यु भी हो गई होती, परन्तु उसके सौभाग्यवश घनघोर वर्षा होने लगी और बादलों के पानी ने उसकी जीवन-रक्षा की। आधी रात को उसे एक गाँव मिल सका, जहाँ एक बुढिया ने उसे कुछ भोजन दिया।

इस प्रकार संकटों का सामना करते हुए मुंगोपार्क ने आगे की ओर यात्रा जारी रखी। अंत में वह एक बड़ी नदी के तट पर पहुँचा। यह नाइजर नदी थी, जिसकी खोज में उसने इतनी आपदाओं का सामना किया था। नदी के किनारे-किनारे कुछ दूर चलने पर सेगो

नाम का प्रसिद्ध नगर मिला। यह अफ्रीका में पार्क के देखे हुए नगरों में सबसे बड़ा था। बहुत से मकान दो मंजिले थे। बड़ी-बड़ी नावों से नदी भरी हुई थी, परन्तु वहाँ के राजा ने पार्क को नगर में न घुसने दिया। अतएव उसे नदी के दूसरे किनारे पर एक गाँव में ही रहना पड़ा, परन्तु वहाँ भी उसे कोई आश्रय देने वाला न मिला, दिन भर निराहार उसे एक वृक्ष के नीचे बिताना पड़ा। अंत में सूर्य अस्त हुआ, रात होने लगी, और सिंह गर्जने लगे, परन्तु कहीं आश्रय का ठिकाना नहीं दिखाई पड़ा। किसी प्रकार एक बुढ़िया ने दया-भाव दिखलाकर उसे कुछ खाने को दिया और अपनी झोंपड़ी में स्थान दिया। दूसरे दिन पार्क ने नदी के बहाव की ओर यात्रा आरम्भ की। मार्ग में उसे भिन्न-भिन्न राज्यों के विरोध और जंगली जंतुओं का तो सामना करना पड़ा ही, उसका स्वास्थ्य भी बहुत बिगड़ चुका था। नदी में बाढ़ भी आ गई थी, इस कारण सेगो से ८० मील दूर सिला नगर तक जाकर उसने लौटने का निश्चय किया। इस समय पार्क के पास भोजन-पदार्थ कुछ भी नहीं था, परन्तु लौटने के लिए सैकड़ों मील यात्रा करनी थी। किसी प्रकार वह एक स्थान तक पहुँच सका, जहाँ से गैम्बिया नदी तक दासों को ले जाने वाला काफिला मिला। उसके साथ वह सकुशल गैम्बिया तक लौट सका। वहाँ से जहाज पर इंगलैंड चला गया। इस यात्रा में उसने जितनी कठिनाइयों का सामना किया था, उनको देखकर उसे फिर यात्रा करने का साहस नही होना चाहिए था, परन्तु सन् १८०५ में उसने दुबारा यात्रा कर नाइजर नदी के उद्गम का पता लगाने का प्रयास किया। जिस-समय पार्क ने गैम्बिया नदी के मुहाने से यात्रा की, वह यात्रा के अनुकूल नहीं था। वर्षा ऋतु का आगमन हो रहा था, परन्तु अपने उत्साह में पार्क ने यात्रा प्रारम्भ कर दी। शीघ्र ही वर्षा

साथ कर दिया। इनके साथ लिविंग्स्टन ने समुद्र-तट तक यात्रा कर लोग्रॉडा नगर को देखा। मार्ग मे कितनी ही जातियों के विरोध का सामना करना पड़ा। लिविंग्स्टन स्वय २७ वार ज्वर-ग्रस्त हुग्रा। किसी प्रकार लोग्रॉडा पहुँचकर फिर लिनयंटी तक यात्रा की गई।

लिनयंटी से पश्चिम समुद्र-तट तक यात्रा समाप्त होने पर लिवि-ग्स्टन ने पूर्व की ग्रोर यात्रा प्रारम्भ की। जेम्बजी नदी के किनारे-किनारे कुछ दूर यात्रा करने पर संसार के सबसे बड़े जल-प्रपात का दर्शन हुग्रा, जिसमें नियाग्रा के जल-प्रपात से चौगुना पानी ३२० फीट की ऊँचाई से एक ४०० फीट गहरे बड़े भारी गर्त्त मे गिरता है। इस गर्त्त से पॉच स्थानों पर प्रचुर मात्रा मे भाप उड़कर वादलों मे मिलती हुई दिखाई पड़ती है। लिविंग्स्टन ने इस प्रपात के दर्शन कर इसका नाम विक्टोरिया जल-प्रपात रखा।

इस प्रपात से ग्रागे वढ़कर लिविंग्स्टन ने जेम्बजी के वहाव की ग्रोर यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग में ग्रनेक दुर्गम वाधाग्रों का सामना करना पड़ा। ग्रन्त में एक वन से घिरे मैदान को पार कर नदी के मुहाने पर क्विलिमेन नगर तक १८५६ ई० में यात्रा समाप्त हो सकी। यहॉ से लिविंग्स्टन इंगलैंड लौट गया।

सन् १८५८ ई० मे वह इंगलैंड से लौटकर फिर ग्रफ्रीका ग्राया। इस बार वह ग्रपने साथ एक ग्रग्निबोट लेता ग्राया था, जो कई टुकड़ों में करके ज़मीन पर भी ढोया जा सकता था। इसकी सहायता से उसने जेम्बजी नदी के मुहाने ग्रौर उसकी एक सहायक नदी का ग्रन्वेषण किया। इसी समय उसने शिरवा ग्रौर न्यासा नाम की दो झीलों का पता लगाया। सन् १८६० ई० मे उसने ग्रपने उन साथियों को, उनके देश मैकोलोलो तक पहुँचाने के लिए यात्रा की, जिनको वह ४ वर्ष पूर्व क्विलिमेन छोड़ गया था। वह यात्रा ग्रानन्ददायक रही।

इस प्रकार छोटे-मोटे ग्रन्वेषण कर लिविंग्स्टन ६ वर्ष के पश्चात् फिर इंगलैंड चला गया। वहॉ से उसने सन् १८६६ ई० में ग्रपनी ग्रन्तिम यात्रा के लिए ग्रफ्रीका तक यात्रा की। इस यात्रा का उद्देश्य न्यासा झील के उत्तर-पश्चिम के भूभाग का ग्रन्वेषण करना था

जिससे मध्य अफ्रीका की नदियों और झीलों की समस्या हल हो सके। इसी यात्रा में उसकी भी मृत्यु हुई।

इस यात्रा के लिए लिविंग्स्टन ने पहले की यात्राओं की अपेक्षा अच्छी तैयारी की थी, परन्तु कठिनाइयों से उसे छुटकारा न मिल सका। उसके साथ के वहुत से आदमी मार्ग से ही लौट गये। कितनों ने तट पर जाकर प्रसिद्ध किया कि लिविंग्स्टन मार डाला गया है। मार्ग में भोजन की भी कमी पड़ गई। किसी प्रकार घने जंगलों और नदियों को पार कर आगे की ओर यात्रा की जा सकी। मार्ग में कई मास तक लिविंग्स्टन को वार-वार ज्वर-आक्रान्त रहना पड़ा। किसी प्रकार टैंगानीका झील के दक्षिण मूरो झील तक यात्रा की जा सकी। यहाँ पर दक्षिण में एक दूसरी झील होने का पता पाकर उसने उसका भी अन्वेषण किया और उसकी परिक्रमा कर आस-पास के देश का ज्ञान प्राप्त किया।

इन दोनों झीलों का पता लगाकर वह टैंगानीका झील के पश्चिमी तट पर पहुँचा। यहाँ पर उसे फिर ज्वर ने आ घेरा और उसे एक प्रकार की पालकी में यात्रा करनी पड़ी। इस झील के तट का अन्वेषण कर उसे डोंगी पर पार कर वह यूजिजी नगर में पहुँचा, जो झील के पूर्वी तट पर स्थित था। लिविंग्स्टन ने इसी नगर को अपना केन्द्र-स्थल वनाकर झील के चारों ओर अन्वेषण करने का निश्चय किया। इस समय उसकी अवस्था वड़ी शोचनीय हो गई थी। इतनी दूर तक निरंतर पैदल यात्रा करने, उपयुक्त भोजन न मिलने और जलवायु के वहुत नमीदार होने के कारण उसका शरीर वहुत ही कृश हो चुका था। इस दशा में भी उसने अन्वेषण-कार्य जारी रखने का यत्न किया। वह झील को डोंगी पर पार कर पश्चिम तट पर पहुँचा। वहाँ से एक नगर तक की यात्रा की गई। मार्ग मे वड़ी ही मनोरम भूमि मिली। वहाँ पर पहाड़ियाँ सुन्दर विशाल वृक्षों से भरी हुई थीं, ऐसी सुन्दर भूमि पहले कहीं देखने को न मिली थी। कई अवसरों पर आगे वढ़ने के लिए इतनी घनी घास को काटकर मार्ग वनाना पड़ता था, जो आधी इंच मोटी और १०-१२ फुट ऊँची होती थी।

इस नगर में पहुंचकर लिविंग्स्टन ने युजिजी से कुछ सहायता आने की प्रतीक्षा की परन्तु वह अधिक समय तक न आ सकी। इस कारण किसी प्रकार दिन काटने के लिए वह आस-पास की भूमि का अन्वेषण करता रहा। अंत में जब किसी प्रकार सहायता पहुंच सकी तो उसने उत्तर की ओर यात्रा कर ल्वालाबा नदी का अन्वेषण करना प्रारम्भ किया। इस नदी का कुछ दूर तक अन्वेषण कर लिविंग्स्टन युजिजी लौट आया। वहाँ पर पहुंचते ही उसे स्टेन्ले नाम का एक दूसरा अंग्रेज मिला, जो उसकी सहायता करने और उसका पता लगाने के लिए भेजा गया था। स्टेन्ले ने ११४ दिन तक यात्रा कर समुद्र-तट से युजिजी तक की यात्रा की थी। जब लिविंग्स्टन ने ऐसे संकट के समय उसकी खोज करने और सहायता करने वाले व्यक्ति को युजिजी में देखा तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। स्टेन्ले ने उससे मिलकर प्रार्थना की कि वह इंगलैंड उसके साथ ही लौट चले, परन्तु लिविंग्स्टन ने अपने निर्धारित कार्य को पूरा किये बिना लौटना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। इस कारण उसे फिर अकेला छोड़ स्टेन्ले लौट गया। स्टेन्ले समुद्र-तट से कुछ आदमियों को भेजने का वचन दे गया। उसके लिए लिविंग्स्टन प्रतीक्षा करता रहा, परन्तु निश्चित समय के एक मास पश्चात् वे आदमी आ सके। उनके आ जाने पर लिविंग्स्टन ने अपना अन्वेषण-कार्य प्रारम्भ किया।

यह यात्रा बड़ी भयकर थी। वर्षा-ऋतु का पूर्ण रूप से आगमन हो चुका था। लिविंग्स्टन इतना रुग्ण हो गया था कि पालकी पर ढोया जाता था। मार्ग में पानी के कारण सारी भूमि दलदल की भाँति हो गई थी। भोजन की सामग्री भी समाप्त हो चली थी। इस प्रकार की कठिनाइयों में यात्रा करते हुए एक दिन रात को लिविंग्स्टन की मृत्यु हो गई। लिविंग्स्टन की आत्मा तो इस लोक से चली गई, परन्तु वह मरते दम तक अन्वेषण-कार्य करते रहकर जितने अज्ञात-स्थानों का सभ्य संसार को ज्ञान कराने में संलग्न रहा, उनसे उसका नाम संसार के अन्वेषण के इतिहास में अमर हो गया।

पीड़ा से मुक्ति

वर्तमान में चिकित्सा-विधि की उन्नति को देखकर किसी को यह भान भी नहीं हो सकता कि इस विधि के विकास के लिए कितने लोग जान की वाजी लगाते है। आज के उन्नत युग में जो कुछ भी हम देखते हैं, और जिसके चमत्कार से हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं, उन सब के मूल में किन्हीं लोगों का आत्म-त्याग साहस और कर्मठता निहित है। साधारण-से-साधारण वस्तु के निर्माण के स्रोत तक पहुँचने पर सहज ही ज्ञान हो जाता है कि उस वस्तु के निर्माण की खोज करने वालों ने कितनी कठिनाइयाँ सहन कीं। उन्हें जोखिम भी उठाने होते हैं, उन्हें अपने जीवन का भरोसा नहीं होता, खाने-पीने और आराम करने जैसी बातें उन्हें नहीं सुहातीं। वह तो अपनी धुन में मतवाले हुए रहते हैं। उन्हें एक पागलपन होता है, कुछ कर डालने का। उन्हें 'कर डालने' के काल में मान की चिन्ता नहीं होती, अपमान उन्हें निरुत्साहित नहीं कर सकता। वह बढ़े चले जाते है, उनका पथ खोज करने का होता है, और वह खोज कर चुकने पर शान्त होते है।

आज के चिकित्सा-विज्ञान की बातों को पढ़कर-सुनकर दाँतों-तले अँगुली दबा लेनी पड़ती है। मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर की चीरा-फाड़ी की जाती है, और वह पुनः स्वस्थ हो जाता है। उसके साँस लेने के दो फेफड़ों में से एक को निकाल लेते हैं। एक से ही मनुष्य जीवित रह जाता है। किन्तु फेफड़ा निकालना कितना कठिन कार्य है ? आलमारी की ताक खोलकर चीज निकालने जैसी बात तो है नहीं, संपूर्ण छाती को चीरना होता है। कितना भयंकर काम है। यदि इससे पूर्व ऑपरेशन (चीर-फाड़—शल्य)

करने के लिए कोई साधन नहीं था, तो चीरा-फाड़ी के ही समय दर्द के मारे आदमी की जान चली जाती। आज तो भारत में भी अनेक ऐसे कुशल डाक्टर है, जो रोगी के फेफड़ों की झिल्लियों को साफ तक कर डालते है, और फिर भी जागते है, और मनुष्य जीवित रह जाता है। नैनीताल के निकट भवाली सेनीटोरियम मे ऐसे ऑपरेशन की एक घटना स्वयं डाक्टर की जबानी मैंने सुनी थी।

तात्पर्य यह कि आपरेशन जैसी क्रिया शान्तिपूर्वक की जा सके और रोगी को चीर-फाड़ का पता तक न लगे, उस प्रयोग की खोज की गई। इस खोज से पूर्व रोगी की दशा तो बलि के बकरे जैसी हो जाती थी। चार-पाँच आदमी हाथ-पाव पकड़ते, रोगी दर्द के मारे चिल्लाता, हाथ-पांव पटकता और डाक्टर बेचारा अपना नश्तर चलाता। किन्तु डाक्टर भी विवश थे।

लेकिन आज तो ऑपरेशन के कमरे मे प्रवेश करने के बाद रोगी की जाघ तक काट दी जाती है, तो भी रोगी उफ तक नहीं कर पाता। यह सत्य है कि उपरान्त कुछ पीड़ा होती है, किन्तु इस पीड़ा को हरने के भी अनेक उपाय है। जिस औषधि के बल पर यह सब सम्भव हुआ, उसका नाम है क्लोरोफार्म। यद्यपि इस औषधि का निर्माण किसी अन्य ने किया था, तथापि इस क्लोरोफार्म को सुँघा कर आदमी को अचेतन करने की महत्त्वपूर्ण खोज का श्रेय डाक्टर जेम्स यंग सिम्पसन को है। सन् १८११ मे स्काटलैंड में सिम्पसन का जन्म हुआ था और १८७० में उनकी मृत्यु हुई। सिम्पसन निर्धन माँ-बाप का पुत्र था। पिता नानबाई थे। बालक सिम्पसन को विद्याध्ययन से प्रेम था। वह पढ़ता था।

सिम्पसन के बाल्यकाल की एक घटना है। एक बार इस प्रदेश मे भीषण महामारी पड़ी। लोगों का विश्वास था कि कोई दुष्ट आत्मा

इस प्रदेश के अधिवासियों को दुख पहुँचा रही है। इस कथित दुष्ट आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उसके पिता और दादा ने एक जीवित गाय को धरती में गाड़ दिया। कितनी मूर्खता की वात थी ! किन्तु प्रकाशयुग से पूर्व मूर्खता का सम्पूर्ण विश्व में राज्य था। योरोपवासी भी भूत-प्रेत और जादू-टोनों में विश्वास करते थे। वालक सिम्पसन ने इस निर्दयता को देखा तो काँप गया। उसके मन में कई विचार आये और गये। जो भी हो, उसके मन में एक विचार तो निश्चित रूप से वैठ गया कि रोगों से मुक्ति पाने का यह उपाय तो सर्वथा निन्दनीय है। भला शारीरिक रोग की मुक्ति के साथ गाय की वलि का क्या सम्वन्ध ! ज्यों-ज्यों वह वड़ा होता गया, उसके मन में ऐसी मूर्खतापूर्ण वातों के लिए विद्रोह करने की आग भड़कती गयी। तदनुसार वह डाक्टर वना। डाक्टर भी ऐसा कि रोगियों के लिए दया का अवतार ! एक बार उसने एक ऑपरेशन किया। रोगी की वेदना से उसका जी भर आया। यहीं से उसने उस अमूल्य खोज का प्रारम्भ किया।

रात-दिन वह इसी चिंता में रहते कि रोगी को इस असह्य वेदना से छुटकारा मिले। उन्हीं दिनों लंदन के प्रख्यात वैज्ञानिक डा० सर हॅंफरी डेवी ने एक नवीन गैस की खोज की, जिसे सूँघकर मनुष्य हॅंसने लगता था, और उपरान्त अचेतन-सा हो जाता था। सिम्पसन ने उस गैस का प्रयोग किया, किन्तु उससे इच्छित परिणाम न निकला। इसी काल में हॅंफरी डेवी के शिष्य फरादे ने ईथर नाम की एक वस्तु की खोज की। किन्तु ऑपरेशन के लिए यह भी सफल न हुई। इस प्रकार सिम्पसन अपने प्रयोगों में व्यस्त थे। उन्होंने अनेक औषधियों द्वारा यह जॉंचने की चेष्टा की किन्तु वह सफल न हो सके।

डाक्टर सिम्पसन के प्रयोगों का महत्त्व यह था कि औषधि का

पता होने पर वह उनका प्रयोग रोगियों पर नहीं करते थे वह स्वतः अपने ऊपर प्रथम प्रयोग करते थे। नई औषधि मिलते ही स्वयं सूंघते, उनके प्रभाव खोजते। अपनी धुन में उन्हें यह ज्ञान भी नहीं रह गया था कि विषैली वस्तुओं के प्रयोग से वह जीवन से हाथ तक धो बैठ सकते है। किन्तु जिन्हें खोज और भावी संतति को उस खोज द्वारा लाभ पहुँचाने होते है, उन्हें जीवन से मोह नहीं रहता। इस खोज के कार्य मे वह कई बार रोग-ग्रस्त भी हुए, किन्तु वह व्यग्र नहीं हुए। एक दिन वह तीक्ष्ण गंध की वस्तु को सूँघने ही वाले थे कि उनके परिचारक ने उनके हाथ से वह शीशी छीन ली। उपरान्त, उसी औषधि को एक खरगोश को सुंघाया गया, तो वह तत्काल मर गया।

इस प्रकार जान की चिन्ता न करते हुए सिम्पसन खोज कर रहे थे। एक दिन अकस्मात उन्हें एक व्यापारी की भेजी हुई एक तरल औषधि का स्मरण हुआ। वह पदार्थ जल की भाँति तरल नहीं था—कुछ-कुछ गाढ़ा था। उन्होंने सोचा—इसकी परीक्षा करनी चाहिए। पहले तो पर्याप्त समय तक स्वयं सूँघते रहे, उपरान्त उनके दो परिचारकों ने भी उसे सूँघा। शीघ्र ही औषधि ने असर दिखाया। सब अचेत होकर गिर पड़े। सयोग से एक अन्य परिचारक वहाँ आया। उसने मृतप्राय डाक्टर तथा दो व्यक्तियों को देखा। भय के मारे काटो तो खून नही।

समयान्तर, सवसे प्रथम डाक्टर को होश हुआ। उन्होंने आश्चर्य से अपने सिर को हिलाया, फिर दोनों परिचारकों को झकझोरा। उन्हें भी अल्पकाल वाद होश आ गयी। सिम्पसन की प्रसन्नता का क्या ठिकाना ! उन्हे वह औपधि मिल गयी थी। वह खुशी से फूले नहीं समाये और वह औषधि थी क्लोरोफार्म ! डाक्टर सिम्पसन ने कई अन्य व्यक्तियों पर उसका प्रयोग किया। स्वतः उनके घर के लोगों ने

भी उसे सूँघा। प्रयोग सफल रहा। उन्हें सहज ज्ञान हो गया कि मनुष्य इस औषधि द्वारा अचेत होकर ऑपरेशन की पीड़ा को अनुभव नहीं करता। अन्य डाक्टरों से भी उन्होंने इसकी चर्चा की। किन्तु डाक्टर उपहास करते। किन्तु शनैः शनैः सब डाक्टर अनुसरण करने लगे।

और आज उसी औषधि के प्रयोग से भयंकर-से-भयंकर ऑपरेशन सफल होते हैं। खोज करने वाले प्राणों को हथेली पर रखकर कार्य करते हैं, और उनका यह साहस उन्हें सफलता के प्रकाश तक पहुँचा कर ही रहता है।

हम पानी बरसा सकते हैं

भारत कृषि-प्रधान देश है। यहां की तीन-चौथाई जन-संख्या कृषि-कार्य पर आश्रित है। किन्तु सिंचाई के साधनों के अभाव में हमारे देश का कृषि-कार्य अपेक्षाकृत बहुत पिछड़ा हुआ है। इसी कारण आज हमारे स्वतन्त्र देश के सामने अन्न की भारी समस्या है। हमें करोड़ों रुपयों का अन्न विदेशों से मँगाना पड़ता है। तिस पर, दूसरों की दया पर निर्भर रहना पड़ रहा है और सबसे बढ़कर हमारी कृषि मुख्यतः वर्षा पर निर्भर है, जो कभी होती है, कभी नहीं भी होती, और कभी इतनी अधिक बाढ़ें आ जाती है, और कभी असमय हो जाती है। इन समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए भारत सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा देश भर मे बाँधों, नलीदार कुओं, नहरों आदि की योजनाएँ बनायी है, जिन पर कार्य हो भी रहा है। किन्तु हम आधुनिक युग की एक नयी खोज का विवरण दे रहे है, जिसे विभिन्न देशों के वैज्ञानिको ने सफल कर दिखाया है, और भारत में भी इस दिशा में यत्न हो रहे है।

प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में मानव ने अभूतपूर्व सफलता पायी है। यहाँ तक कि पानी की कमी से जो अकाल की संभावना बनी रहती है, उसका डर भी अब नही के बराबर रह गया है। अब तो ऐसे प्रयोग सफलता के किनारे पहुँच गये है, जबकि मनुष्य निकट भविष्य मे, जब भी चाहे जल-वृष्टि कर सकता है।

सबसे पहले मेलबोर्न नाम के एक व्यक्ति ने इस दिशा मे प्रयत्न किये थे। उसने साफ-सुथरी जमीन पर चार खिड़कियों वाला एक मकान बनवाया था, जिसमे उसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को प्रवेश करने की आज्ञा नही थी। कई पहियेदार हौज, बिजली की बैटरियाँ व अन्य रासायनिक पदार्थों से सुसज्जित इस मकान

मे एक चिमनी थी और इसी चिमनी से मेह बरसाने वाली रहस्यमयी गैस निकला करती थी।

मेलबोर्न ने जल-वृष्टि का यह नुस्खा बेच दिया। फलस्वरूप जल-वृष्टि करने वाली कई कम्पनियाँ भी बन गयी। बाद में ज्वैल्स व हेटफील्ड नाम के दो व्यक्तियों ने भी कृत्रिम-वर्षा के आश्चर्यजनक प्रदर्शन किये। पोर्टलैंड के कर्नल ऐकले ने वायुयान के जरिये, बादलों के एक घने समूह पर मुट्ठी भर खुश्क बरफ की गोलियाँ बिखेरकर पानी बरसा दिया। और आज तो लगभग सभी वैज्ञानिक इस बात पर सहमत है कि वातावरण में नमी लायी जा सकती है। अंतरिक्ष विद्या के जानकारों ने भी इसकी संभावना का समर्थन किया है।

विदेशों में तो वैज्ञानिकों ने इस दिशा में काफी प्रगति की है। अमेरिका के डा० फ्रिक का कहना है कि यह तो एक काफी अच्छा व्यापार बन सकता है। डा० फ्रिक कोक बर्निग जेनरेटरों के द्वारा 'सिल्वर आयोडाइड' के छोटे-छोटे कणों को बादलों तक पहुँचाकर जल-वृष्टि कर देते है। उनका यह तरीका इतना कारगर साबित हुआ है कि उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों ने उनसे शिकायत की है कि उनके द्वारा की गई कृत्रिम जल-वृष्टि से फसलों को क्षति पहुँची है। कई स्थानों पर पानी इकट्ठा हो गया है और कई अन्य आवश्यक कार्य नहीं किए जा सके।

लेकिन डा० फ्रिक की यह सफलता मि० हेटफील्ड की सफलता के सम्मुख कुछ भी नही है। बात सन् १९१६ की ही है। सैनडियागो नगर-समिति ने हेटफील्ड से कहा कि वह कृत्रिम-वर्षा द्वारा मोरेना जलाशय को पुन: पानी से लबालब कर दे, जो गरमी की अधिकता से सूख गया था। दस हजार डालर पर हेटफील्ड यह काम करने को तैयार हो गया। उसने अपने यंत्रों का प्रयोग किया और थोड़े समय

में ही पानी बरसना प्रारम्भ हो गया। आरम्भ में तो पानी आहिस्ता-आहिस्ता और कम परिमाण में ही बरसता रहा, लेकिन फिर उसने जोर पकड़ा। दो दिनों के बाद ही सैनडियागो नदी में बाढ़ आ गयी। बाढ़ की वजह से यातायात बन्द हो गया और व्यापार बिल्कुल ठप्प-सा हो गया। इस वर्षा ने लगभग ४० या ५० व्यक्तियों की जान ले ली। हेटफील्ड से इस वर्षा को बन्द करने का अनुरोध किया गया, पर उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि जलाशय अभी तक भरा नहीं था और बिना उसे पानी से लबालब किए हेटफील्ड को दस हजार डालर प्राप्त करने का कोई हक नही था।

अन्त में २१ जनवरी को उसने यह गर्वपूर्ण घोषणा की कि जलाशय बिल्कुल भर चुका है। साथ ही उसने जल-वृष्टि रोक भी दी है। पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उसने उक्त समिति से दस हजार डालर की माँग की और समिति ने यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि अगर वह सचमुच ही इस वर्षा के लिए जिम्मेदार है, तो उसके ऊपर ३० लाख से लेकर ६० लाख डालर तक की क्षति-पूर्ति का दावा भी दायर किया जायेगा और अगर वह इस वर्षा के लिए जिम्मेदार नही है, तो उसकी दस हजार डालर की माँग बिल्कुल ही नाजायज है। बेचारे हेटफील्ड को लेने के देने पड़ गये और वह चुप लगा गया।

यह तो अमेरिका की घटना है, पर अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में कम प्रयत्न नही किये हैं और उन्हें सफलता भी मिली है। सोवियत रूस के वैज्ञानिकों ने ऐसी कई मशीनें तैयार की है, जिनसे वे अपनी इच्छानुसार जब चाहें, जल-वृष्टि कर सकते है। रूस के वैज्ञानिकों की यह खोज अकाल को रोकने में बड़ी ही सहायक सिद्ध होगी, ऐसा उनका विश्वास है। उनके इस प्रयत्न से खेती में क़ाफी मदद मिल

रही है और कुछ फसलों की पैदावार अब बिल्कुल ही निश्चित हो गई है, जो पहले प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर रहने के कारण अनिश्चित थी।

रूस ने इस दिशा में अपनी खोज सन् १९४१ में आरम्भ की थी, पर अब तो वह इतनी अधिक तरक्की कर गया है कि उसकी पैदावार में ५० प्रतिशत की वृद्धि होने लगी है। कृत्रिम जल-वृष्टि करने वाला यह यंत्र किसी भी ऐसे खेत में लगाकर काम में लाया जा सकता है, जिसके निकट ही तालाब, नदी या किसी प्रकार पानी प्राप्त करने का कोई साधन हो। पानी बरसाने की इस मशीन से रूस में कृषि-व्यवसाय को काफी प्रोत्साहन मिला है।

दक्षिणी अफ्रीका से भी इस सम्बन्ध में खबरें सुनने में आयी हैं। वहाँ के मिलिन्दनी नामक डाक्टर ने इस दिशा में प्रयत्न किये थे, पर अभाग्यवश उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। उसने अपने यंत्रों की सहायता से कृत्रिम जल-वृष्टि की चेष्टा की। पहले दिन उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। दूसरे दिन भी आकाश बादलों से शून्य ही रहा। इस पर वहाँ के आदिवासी बिगड़ खड़े हुए, पर डाक्टर ने समझा-बुझा कर रोक दिया और आश्वासन दिया कि उसे अपने प्रयत्न में अवश्य सफलता मिलेगी। अभाग्यवश तीसरे दिन भी आकाश में बादलों की घटा नहीं उमड़ी। अब तो आदिवासियों के क्रोध का ठिकाना न रहा और उन्होंने डाक्टर को जान से मार डाला। डाक्टर की लाश अभी पूर्ण रूप से जल भी न पायी थी कि उसकी खोज की सफलता दृष्टिगोचर हुई। आकाश में सहसा घने व काले बादल छा गये और इतने जोर की बारिश हुई कि सब जलमग्न हो गया।

अभी हाल, पिछले वर्ष फरवरी मास में आस्ट्रेलिया के अन्तरिक्ष विद्या के कुछ विशेषज्ञों को लेकर एक वायुयान सिडनी के हवाई अड्डे से उड़ा। ११ हजार से कुछ फुट ऊपर जाकर उन विशेषज्ञों ने, बादलों

नौ मील ऊँची उड़ान

भई साहस की भी हद है ! "मैं इतना ऊँचा उड़ूँगा कि कोई उड़ा न हो" स्क्वाडरन स्वेन ने निश्चय किया। भला सोचिए, आपकी इतनी ऊँची उड़ान से होगा क्या ? और आखिर ऐसे भयंकर साहस कर दिखाने का लाभ ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि मनुष्य साहस न करता, तो आज, जिस संसार में हम रह रहे हैं, उसकी सूरत ही और होती। न रेलें होतीं, न सड़कें होतीं, न डाक, न तार के प्रवन्ध होते, न समुद्र-पार हम व्यापार कर पाते, न कृषि की वर्तमान प्रगति होती, न विजली होती, न यंत्र होते—सार यह कि हम, हम न होते। मनुष्य के साहस का ही तो यह परिणाम है कि हम जिस युग में रह रहे हैं, उस युग के लिए उसने अनेकानेक प्रकार की सुख-सामग्री जुटा दी है। और वे संसार में इतना ऊँचा उड़ना चाहते हैं कि जहाँ तक कोई भी उड़ान न ले सका हो, उनके इस साहस से वायुयान में कितनी प्रगति होगी। आज अनुमान तो कीजिए !

और सितम्वर १६३६ में एक दिन सुवह-सुवह फार्नवरो के हवाई-अड्डे पर विचित्र चहल-पहल थी। जिस मोनोप्लेन द्वारा स्वेन ने अपने निश्चय को पूर्ण करना था, उसकी देख-भाल की जा रही थी। उसके एक-एक पुर्जे की देख-भाल की जा रही थी। उसमें डाला जाने वाला तेल (पैट्रोल) भली प्रकार जाँच कर डाला जा रहा था। उसके अंग-अंग की परीक्षा हो रही थी कि कहीं हवाई जहाज की किसी त्रुटि के कारण इस साहसी का कार्य अधूरा न रह जाय।

दूसरी ओर स्वेन को पोशाक पहनाई जा रही थी। दो साथी मदद कर रहे थे। कितनी कठिनाई से वह पोशाक पहनी

जा [illegible] रही थी। [illegible] भी नहीं हो पाता। [illegible]
[illegible] गया। उसके साथ [illegible] पानी का प्रवेश असम्भव था। और सिर पर एक धातु का टोप कसा लिया। मुँह के सामने की ओर शीशा लगा था [illegible]। और वायु का भी उस पर असर नहीं हो सकता। किन्तु यह नहीं कि उसे ऐसे [illegible] में ही बन्द कर दिया हो; उसे हवा भी चाहिए। इसके लिए ऑक्सीजन का प्रबन्ध था। गंदी हवा निकल सके, इसका भी प्रबन्ध था।

मोनोप्लेन छोटा है, किन्तु इतना छोटा होने पर भी अढ़ाई टन का हो जाता था। उसमें पड़ने वाला पेट्रोल ही अकेला ८० गैलन हो जाता था। सारा जहाज लकड़ी का बना हुआ था। इसका एक अकेला पंख था, जो एक सिरे से दूसरे सिरे तक ६० फुट लम्बा था। इससे पूर्व ऐसा मोनोप्लेन (एक प्रकार का हवाई जहाज) नहीं बनाया गया था। इसी कारण इतनी ऊंचाई से इसकी परीक्षा हो रही थी कि उसने उसी कोलाहल-पूर्ण वायुमंडल में उड़ना है, जहाँ बादल तो नहीं है, किन्तु जाड़ा इतना अधिक है कि अनुमान नही किया जा सकता। जहाँ वर्षा तो नहीं होती, किन्तु वैज्ञानिकों का कहना है कि वहाँ स्थित वातावरण होने के कारण समुद्र की भाँति भीषण वायु-लहरें उठती है।

यान-चालक के बैठने की जगह शीशे की दीवारों से घिरी हुई है, अर्थात् शीशे की बनी हैं। चालक के सामने अनेक यंत्र लगे हैं; जिनमें तेल और मौसम के ताप को नापने का यंत्र है, अ-देखे उड़ने का यंत्र है, दिशा-ज्ञान का यंत्र है, ऑक्सीजन और तापयंत्र है। यदि ऑक्सीजन यंत्र का प्रबन्ध किसी समय असफल रह जाय और चालक को अचेतन दशा में भूमि पर उतरना पड़े, तो चालक को उस शीशे के डरबे में से मुक्त होने के लिए केवल एक बटन

दवाना भर होगा। इससे भी अधिक सावधानी के लिए उसके वाँह पर एक खुला चाकू रखा गया कि वह उसका प्रयोग कर सके।

किन्तु शाही हवाई सेना के स्क्वाडरन लीडर स्वेन के चित्त में ये सव शंकाएँ नहीं; स्वेन को तो केवल सफल होने की धुन है। और वह उस डरवे में जा वैठा। यान का इंजन गरम था ही। उसने डरबे की छत को भी वंद किया। उपस्थित छोटे से दल से हँसते हुए विदा ली, और स्वेन ठीक ७-३० वजे प्रातः उड़ा। आकाश निर्मल और स्वच्छ था। मोनोप्लेन ने हवाई अड्डे पर चक्कर काटे और कुछ ही क्षणों में पृथ्वी पर खड़े लोगों की आँखों से ओझल हो गया। आध घण्टे के अन्दर-अन्दर उच्च मापक यंत्र ने ४० हजार फुट की ऊँचाई का प्रदर्शन किया। स्वेन ने अपने लिए आॅक्सीजन की मात्रा में थोड़ी-सी वृद्धि की और ५ हजार फुट और ऊँचे जाने के लिए दक्षिण-पूर्व की दिशा में घूमा। इतनी ऊँचाई पर की वायु में शीत के ववंडर-से चल रहे थे। वायु का यह प्रकोप उसके यान को नीचे की ओर न ढकेल दे, इस वात की सावधानी रखते हुए स्वेन और ऊपर जाने लगा।

४६ हजार फुट की ऊँचाई पर की शुद्ध वायु के इस वातावरण में प्रकाश की इतनी चकाचौंध थी कि आँखें चौंधिया जाती हैं। इस प्रकाश की इतनी अधिक तीव्रता होती है कि आँखें अंधी तक हो सकती हैं। इस प्रकाश के विषय में स्वेन पूर्णतः सावधान था। इसी कारण उसने आस-पास की सव वस्तुओं को काला कर रखा था, जिससे कि चमक से चकाचौंध वढ़े नहीं। ३५ हजार फुट की ऊँचाई के वाद वादलों का कहीं निशान तक नहीं था। सारा वातावरण इतना अत्यधिक स्वच्छ था। अव भी आकाश अनंत गहन जान पड़ रहा था।

व्राईटन क्षेत्र में दक्षिणी समुद्र-तट पर उसने ४७ हजार फुट

नीचे की ओर झांका। उसे सब कुछ साफ दीख रहा था। नीचे की दुनिया उसे ऐसे लगी, जैसे कागज पर छपा हुआ मान-चित्र होता है। विश्व का सबसे महान् नगर उसे एक छोटा-सा खिलौना दीख पड़ा, और टेम्स नदी की जल-धारा चाँदी की पतली-सी धारी के समान दिखाई दी। इंगलैंड और फ्रांस के बीच उसे छोटे-छोटे द्वीप नदी के जल में पड़ी छोटी-छोटी कंकड़ियों जैसे दिखाई दे रहे थे। पृथ्वी-तल से इतनी महान् ऊँचाई में उड़ते हुए एकाकी चालक को अनन्त शून्य का भान हुआ।

किन्तु स्वेन तो अपने निश्चय को सफल करने के लिए निकला था। उसने इन क्षणिक विचारों को अपने वायुयान में लगे सब यन्त्रों की दिशा में केन्द्रित किया। ४७ हजार फुट की ऊँचाई के बाद ज्यों-ज्यों वह ऊपर जाने लगा, तो बाहरी हवा और पोशाक के अन्दर की हवा के दबाव के बीच अन्तर बढ़ने लगा। उसकी पोशाक गुब्बारे की तरह फैलने लगी। इस अकस्मात-भय की आशा नहीं थी। और जैसे-जैसे उसकी फुलावट बढ़ने लगी, उसके लिए हाथ-पाँव हिलाना तक कठिन जान पड़ने लगा। इसके साथ ही उसकी दाहिनी बाँह में दर्द-सा हो उठा।

इतने पर भी वह ऊपर-ही-ऊपर जा रहा था। ५० हजार फुट तक वह जा चुका था। उसके वायुयान के इंजन जवाब दे रहे थे। फिर भी एक-एक फुट ऊँचे वह बढ़ रहा था, और अंततः उसकी सूई ने ५१ हजार फुट की ऊंचाई दिखायी और अब तो इंजन कह रहे थे, बस करो भाई ! तुम्हारे साहस की तो हद ही नही। शायद तुम अनंत-अनंत काल तक उड़ते रह सकते हो, किन्तु हम तो यन्त्र हैं। हम में और शक्ति नहीं। और स्वेन ने अपने यन्त्रों की बात मान ही ली।

इतनी ऊँचाई पर से विश्व की एक झाँकी लेकर उसने नीचे की

ओर उतरना शुरू किया, पुनः पृथ्वी पर कि जहाँ से वह चला था। अब वह ब्रिस्टल चैनल पर था और वेल्स पर्वत उसे दीख रहे थे।

जब वह ५ हजार फुट नीचे आ चुका तो उसने देखा कि उसके डरबे की खिड़कियाँ धुँधली पड़ने लगी हैं। थोड़े ही क्षणों बाद उसके टोप का देख सकने वाला भाग भी धुँधला पड़ने लगा। सामने लगे यन्त्र उसे दीख नहीं रहे थे। वह सूर्य का प्रकाश अनुभव कर रहा था। और तब, अ-देखे वह पूर्व की ओर मुड़ा। उसे निश्चय था कि इस दशा में रहने से कम-से-कम वह स्थल के ऊपर तो रहेगा। हवाई जहाज निरन्तर नीचे-ही-नीचे जा रहा था। स्वेन इस उतराई में जैसे अचेतन-सा होने जा रहा था। जहाज तो उसकी कुशलता से स्वतः ही चल रहा था किन्तु उसका दम घुटने-सा लगा। सफलता की सीढ़ी पार करके भी यह क्या होने जा रहा था! इसी दशा में उसे लगा कि जैसे ऑक्सीजन की कमी हो रही है। उसने खतरे का वह बटन दबाना चाहा किन्तु उसे तब तो बेहद आश्चर्य हुआ कि जब उसे दबाने तक की शक्ति उसमें नहीं थी। फिर भी वह व्याकुल न हुआ। वह अपने को सँभाले रहा। उसने बाँह में चाकू लगा लिया और उससे सिलोलायड की खिड़की को काट दिया।

एकाएक हवा आने लगी। एक बार पुनः वायुयान पर स्वेन का पूर्ण अधिकार था। अब वह १४ हजार फुट की ऊँचाई पर था—साँभर सैंट के ऊपर। उसने ३० हजार फुट की उतराई अचेतन-सी और अ-देखी दशा में पार की थी।

कुछ मिनटों बाद वह नेदराबर हवाई अड्डे पर उतर गया। ऊँचाई मापक यन्त्र को देखा गया तो मालूम हुआ कि स्क्वाडरन लीडर स्वेन ४६,६६७, फुट की ऊँचाई तक गया था—अर्थात् पृथ्वी से ६ मील से अधिक ऊँचाई तक।

स्वेन ने अपने निश्चय को पूर्ण करके दिखा दिया।

ध्रुव-प्रदेशों की यात्रा

संसार में अनेकों ऐसे वीर और साहसी हो गए है, जिन्होंने अपने प्राणों की चिन्ता न करके ऐसे भीषण एवं दुर्गम कार्यों को करने पर कमर कसी कि जिनके विवरण-मात्र से ही जी दहल जाता है। किन्तु उन्ही साहसी एवं वीरों के कृत्य आज भी, और भविष्य में भी हमारे लिए आदर्श बने रहेंगे। और उनकी ये कथाएँ भीषण से भीषण कार्यों को करने के लिए उमंग बल संचार करती रहेंगी।

ईसा की सोलहवीं शताब्दी में उत्तरी महासागर में योरोप से पूर्व या पश्चिम की ओर चलकर कई अन्वेषकों ने एशियायी देशों तक पहुँचने का जो उद्योग प्रारम्भ किया था, उसमें सफलता न मिल सकी। परन्तु उनके असफल होने पर भी उनके अभिलषित मार्ग ढूंढ़ निकालने की इच्छा लोगों के हृदय मे स्थान बनाये रही। इस उत्कट अभिलाषा ने अन्वेषकों को १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक वार फिर उस ओर आकर्षित किया। अतएव, कनाडा के पूर्व-स्थित समुद्र से एशिया और उत्तरी अमेरिका महाद्वीप को पृथक् करने वाले बेरिंग जलडमरूमध्य तक उत्तर सागर के मार्ग से पहुँचने के लिए अन्वेषकों ने फिर प्रयत्न आरम्भ किया।

इन प्रयत्नों के फलस्वरूप कनाडा के उत्तर से बेरिंग जलडमरूमध्य तक यद्यपि किसी जहाज को समुद्र-मार्ग से यात्रा करने का अवसर न मिल सका तथापि समुद्र-मार्ग का ज्ञान हो गया। इन यात्राओं मे वीर अन्वेषकों ने अपने अपूर्व साहस और त्याग का जैसा परिचय दिया, वह अन्वेषण-जगत में सर्वथा अनुपमेय है।

जून सन् १८२१ ई० में फ्रैंकलिन ने दो डोंगियों पर पूर्व की ओर ५५० मील तक तट का अनुसंधान किया। मार्ग में वर्फ के ऐसे वहते टुकड़े मिलते थे, जिनसे डोंगियाँ टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो सकती थीं। किन्तु किसी तरह इतनी यात्रा कर लेने पर भोजन की कमी के कारण फोर्ट इंटरप्राइज़ तक शीघ्र पहुँचने के लिए स्थल-मार्ग का अनुसरण किया गया। मार्ग में बड़े जोरों की आँधी उठी और सव खाद्य-पदार्थ नष्ट हो गए। जैसे-तैसे प्राण-रक्षा कर डेरे तक लौट सकने के लिए यात्रियों को जूते के चमड़े का शोरवा बनाकर गुजर करना पड़ा। पाँच दिन तक निराहार रहते हुए भोजन मिलने की आशा में सभी यात्री फोर्ट इंटरप्राइज में पहुँचे, परन्तु वहाँ उजाड़ पड़ा था और कोई खाने की चीज नहीं थी। इसी तरह भूख से मरणासन्न यात्रियों ने निराश होकर कुछ हिरण की सूखी हड्डियों और चमड़े का शोरवा बनाकर भोजन किया। इस यात्रा में पाँच हजार मील से भी अधिक चलकर भीषण संकटों का सामना करता हुआ फ्रैंकलिन यार्क फैक्ट्री लौट सका।

पहली यात्रा में इतनी मुसीवतों का सामना होते हुए भी फ्रैंकलिन ने कनाडा के उत्तरी तट का अन्वेषण-कार्य न छोड़ा और सन् १८२८ ई० में ड० रिचर्डसन और बैक के साथ दुबारा रवाना हुआ। इस वार मेकेंजी नदी के मार्ग से सभी यात्री उत्तरी सागर के तट पर पहुँचे। वहाँ से फ्रैंकलिन पश्चिम की ओर बैक के साथ रिचर्डसन पूर्व की ओर अन्वेषण करने निकले। इस तरह कुल १०० मील तक तट का अन्वेषण हो सका। पूर्व में रिचर्डसन कापरमाइन नदी के मुहाने तक जा सका और पश्चिम में फ्रैंकलिन १५०° अक्षांश पश्चिम देशान्तर तक जा पहुँचा। इंग्लैण्ड की सरकार ने उसी समय एक जहाज बेरिंग के मुहाने होकर उस ओर भेजा था कि फ्रैंकलिन को मिल

सके। वह जहाज १६०° अक्षांश पश्चिम देशान्तर तक जा सका था, परन्तु ये दोनों जहाज मिल न सके।

इस तरह अन्वेषकों के प्रयत्न से कनाडा के उत्तरी समुद्र-तट का अन्वेषण कर उत्तर के मार्ग से ही अटलांटिक महासागर के बेरिंग के मुहाने और प्रशान्त महासागर तक का लगभग पूरा समुद्र-मार्ग ज्ञात हो सका था। लेकिन किसी जहाज को यह पूरा मार्ग तै करने का अवसर नहीं मिला था। बीच में लंकास्टर के मुहाने से कुछ दक्षिण तट के समुद्र-मार्ग का अन्वेषण करना शेष रह गया था। इस थोड़े अंश का ज्ञान प्राप्त कर बहुत दिनो से अभिलषित मार्ग का ज्ञान पूर्ण करने की अभिलाषा से फ्रैंकलिन ने सन् १८४५ ई० में एक बार फिर यात्रा करने का साहस किया। उस समय उसकी अवस्था ६० वर्ष की हो गई थी, परन्तु उसने अपने साहस का एक अपूर्व उदाहरण उपस्थित करने के लिए यात्रा की, परन्तु इसी यात्रा मे ही सभी यात्रियों के साथ उसकी आत्मा इस लोक से चल बसी और अधिक दिनों तक लोगों को उसके सम्बन्ध मे कुछ भी समाचार न मिल सका। जब इन यात्रियों की खोज करने के लिए कई जहाज अधिक दिनों तक पता लगाते रहे तो उसके बर्फ मे गल जाने का समाचार मिल सका।

इन यात्रियों की मृत्यु-कथा बहुत ही करुणापूर्ण है। ये दो जहाजों पर तीन वर्ष तक के लिए खाद्य-पदार्थ लेकर चले थे। बैफिन की खाड़ी से चलकर लंकास्टार के मुहाने के आगे अज्ञात मार्ग के अन्वेषण मे इनका जहाज बर्फ मे जम गया और दो वर्ष तक वहाँ से न निकल सका। धीरे-धीरे सभी खाद्य-पदार्थ न्यून हो चले। तीसरे वर्ष भी ग्रीष्म ऋतु आने पर बर्फ न गलने से यात्रियों ने जहाज छोड़कर दक्षिण की ओर बर्फ पर यात्रा की और एक ऐसे स्थान तक पहुँच सके, जहाँ तक अन्वेषक उत्तरी सागर के तट का अन्वेषण

करते पहुँच सके थे। इस प्रकार अब सम्पूर्ण मार्ग का पूरा ज्ञान हो सका परन्तु इस संवाद को संसार को सुनाने का अवसर मिलने के पूर्व ही वे सब वर्फ में गलकर मर गए।

इस प्रकार अब तक तो एशिया तक के उत्तरी मार्ग की खोज में ही अन्वेषक शीत-प्रदेश की भीषण यात्राओं में संलग्न होते रहे। परन्तु इन शीत खंडों में यात्रा कर बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् लोगों का ध्यान उत्तरी ध्रुव के अन्वेपण की ओर आकृष्ट हुआ। उत्तरी ध्रुव के अन्वेषण से कितनी ही वैज्ञानिक गवेषणाओं में सहायता मिल सकती थी और बहुत सी वातों का यथार्थ ज्ञान हो सकता था। अतएव, अब तक की गई व्यापारिक खोजों के स्थानों पर अब वैज्ञानिक अन्वेषण करने के लिए अन्वेषक सामने आये। इन अन्वेषकों में पियरी और नैन्सन उत्तरी ध्रुव के अन्वेषण में विशेपतया ख्यात हैं।

नैन्सन नार्वे का रहने वाला था। इसने ध्रुव प्रदेश के सम्बन्ध में वहुत सी बातों का अध्ययन करने में पर्याप्त समय लगाया था। इसने सन् १८८८ में ग्रीनलैंड द्वीप को पूर्वी तट से पश्चिमी तट तक पार किया था, जो बड़ी भीषण यात्रा थी। इसने इसके पश्चात् ध्रुव प्रदेश की हवाओं और समुद्री धाराओं का कई वर्ष अध्ययन कर यह ज्ञात किया था कि वेरिंग द्वीप के उत्तर में ध्रुव की ओर सदा वर्फ खिसका करती है और ध्रुव होकर फिर ग्रीनलैंड के तट और स्पिट्सवर्ग होती हुई अटलांटिक महासागर में पहुँचती है। इसलिए उसने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि कोई जहाज बर्फ के खिसकाव में पड़े तो वह धीरे-धीरे उत्तरी ध्रुव होता हुआ अटलांटिक महासागर में पहुँच जायगा। इस तरह यात्रा करने वाले जहाज को कई वर्ष तक वर्फ में फँसे रहना पड़ेगा। इसलिए नैन्सन ने एक ऐसे जहाज का निर्माण किया जो वर्फ में फँसने पर उसके दवाव से फट

न जाय, बल्कि ऊपर उठ जाय, और बर्फ के ऊपर ठहरा रहे।

इस तरह अपनी योजना पूरी कर नैन्सन ने नार्वे में जून सन् १८९३ ई० में पूर्व की ओर यात्रा की। उसके साथ कुल १३ आदमी थे। नोवाजेम्बिया पहुँचने पर साइबेरिया के कुछ चुने हुए कुत्ते जहाज पर चढ़ा लिये गये। बीच में आवश्यकता पड़ने पर बर्फ के ऊपर यात्रा करने के लिये बेपहिए की स्लेजगाड़ी काम में लानी पड़ती थी। उसे खींचने के लिए कुत्ते ही उपयुक्त थे। जहाज आगे चलकर चिल्यूस्किन अन्तरीप तक पहुँचा। वहाँ पर खिसकने वाली बर्फ मिली। उसमें जहाज डाल दिया गया। नैन्सन के अनुमानानुसार जहाज बर्फ के दबाव मे उसके ऊपर रहकर उसके साथ खिसकने लगा।

जब १५ महीने तक बर्फ के साथ खिसकते रहकर जहाज ८३ अक्षांश उत्तर तक पहुँचा तो यह अनुमान किया गया कि वह ध्रुव के मार्ग से दूर जा रहा है। इसलिए नैन्सन ने एक आदमी को साथ लेकर स्लेजगाड़ी पर ध्रुव तक यात्रा करने का निश्चय किया। वहाँ से जहाज छोड़ने पर फिर उसके मिलने की आशा नहीं थी, क्योंकि ध्रुव से लौटते समय तक वह खिसककर बहुत ही दूर पहुँच जाता। इसलिए उसने जहाज की बिलकुल आशा छोड़कर कुत्तों से खीची जानेवाली स्लेज पर ध्रुव की ओर यात्रा प्रारम्भ की। परन्तु ८८ उत्तर अक्षांश पर ध्रुव से २०० मील की दूरी तक पहुँचने पर बर्फ के ऊँचे-ऊँचे टीले मिलने लगे। इसलिए विवश होकर यात्रा स्थगित कर देनी पड़ी।

नैन्सन की वापसी यात्रा विशेष कष्टदायक थी। मार्ग मे स्थान-स्थान पर बर्फ के गल जाने से नाले बन गए थे। उनको नैन्सन ने एस्किमो लोगों की नावों पर पार किया, जिन्हें वह साथ लाया था। कभी-कभी ध्रुव प्रदेश मे रहने वाले भालू उन पर आक्रमण करते।

किसी प्रकार उन्होंने यात्रा कर द्वीपों का समूह देखा और वहीं पर जाड़े की ऋतु व्यतीत की। गरमी आने पर वे फिर दक्षिण की ओर वढ़ने लगे और एक मास पश्चात् वे फ्रांजजोजेफलैंड में पहुँचे। वहाँ पर उन लोगों को लेने के लिए एक जहाज प्रतीक्षा करता हुआ मिला। इसे देख उन्हें वहुत ही प्रसन्नता हुई और वे नार्वे लौट गए। कुछ समय वाद नैन्सन के विचारानुसार उसका जहाज भी शेष यात्रियों के साथ बर्फ में बहता हुआ अटलांटिक महासागर में पहुँचा और नार्वे लौट सका।

नैन्सन की ध्रुव-यात्रा अधूरी रह जाने के पश्चात् अमेरिका के पियरी नाम के अन्वेषक ने ध्रुव तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की। पियरी ने कनाडा के उत्तर ध्रुव प्रदेश में स्थित द्वीप और ग्रीनलैंड की भीतरी यात्रा करने में अधिक समय व्यतीत किया था। उसी ने ग्रीनलैंड के उत्तरी सिरे तक पहले-पहल पहुँचकर ग्रीनलैंड का एक द्वीप होना सिद्ध किया था। इन शीत खंडों की यात्राओं में उसे वहुत कष्ट भोगना पड़ा था, परन्तु उसने इनका अनुमान होते हुए भी उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने का निश्चय किया।

इसके लिए पियरी एक जहाज पर सब सामान और साथियों को लेकर ग्रीनलैंड के उत्तर-पश्चिम में स्थित ग्रांटलैंड के कोलम्बिया अन्तरीप के समीप पहुँचा। वहाँ से फरवरी सन् १६०६ ई० में यात्रियों का दल स्लेजगाड़ियों पर रवाना किया गया। पहले एक दल इसलिए भेजा गया कि वर्फ की चट्टानों को काट-काट कर कुछ दूर तक मार्ग साफ करदे। इसके वाद पहली मार्च सन् १६०६ ई० को पियरी ने २४ आदमी, १६ स्लेजगाड़ियाँ और १५० कुत्तों के साथ यात्रा प्रारम्भ की। आगे वढ़ने पर उसने थोड़े-थोड़े समय वाद दल के कमजोर आदमियों और कुत्तों को धीरे-धीरे लौटाना

प्रारम्भ किया। अन्त में ध्रुव से १३० मील की दूरी तक पहुँचने पर उसके साथ एक नौकर और चार एस्किमो ही रह गए। इनके साथ उसने तेजी से यात्रा प्रारम्भ कर दी। ज्यों-ज्यों आगे वढ़ने पर ध्रुव निकट आता जा रहा था, त्यों-त्यों यात्रियों के हृदय में एक विचित्र भाव उत्पन्न होता जा रहा था। अन्त में ६ अप्रैल १९०९ को वह ध्रुव तक पहुँच गया, जहाँ चारों ओर वर्फ-ही-वर्फ दिखाई पड़ती थी। वहाँ से विजय के उल्लास में पियरी ने ४८ मील प्रति दिन की तीव्र गति से वापसी की यात्रा की। जब ध्रुव तक पहुँचने के चार मास पश्चात् पियरी के अमेरिका लौट आने पर लोगों ने यह संवाद सुना तो चारों ओर वड़ी सनसनी फैल गई और पियरी की चारों ओर धूम मच गयी।

उत्तरी ध्रुव के अन्वेषण की अपेक्षा दक्षिणी ध्रुव के अन्वेपण की कथा वहुत ही रोमांचकारी है। इसकी खोज में कप्तान स्काट, ओट्स और उनके साथियों ने वडी वीरता से प्राण-त्याग किया था। उनकी कथा वहुत करुणापूर्ण है।

जिस समय दक्षिण को ओर किसी महाद्वीप के होने की कल्पना के कारण कप्तान कुक ने सन् १७७३ ई० मे पहले-पहल दक्षिण ध्रुववृत्त को पार किया था, उस समय उसने वहाँ के अत्यधिक शीत और वर्फ से भरे समुद्र को देखकर घोपणा की थी कि यात्रा की भीपणता के कारण कोई भी यात्री उसके पहुँचे स्थान से अधिक दक्षिण न जा सकेगा और धुर दक्षिण मे स्थित भूखंड का कभी भी अन्वेषण न हो सकेगा। परन्तु कुक की यह वात निराधार सिद्ध करने के लिए वीर अन्वेपकों ने वीड़ा उठाया और वे कुक से भी कुछ अधिक दक्षिण पहुँच सके। सन् १८१९ ई० में कप्तान विलियम स्मिथ ने अधिक दक्षिण जाकर दक्षिणी शटलैंड द्वीप की खोज की; सन् १८२२ ई० में

कप्तान वेडेल ७४ अंश दक्षिण अक्षांश तक पहुँच सका और सन् १८३१ ई० में कप्तान विस्को ने अण्डरडीलैंड, एडीलैंड द्वीप तथा ग्राइपलैंड का पता लगाया।

सन् १८४१ ई० में इंग्लैंड की सरकार ने जेम्स रास की अध्यक्षता में दो जहाज दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश की भूमि का पता लगाने भेजे। रास दक्षिणी महाद्वीप के तट तक पहुँचा और दो भीषण ज्वालामुखी पर्वतों को देखा, जिनका नाम उसके जहाजों के नाम पर रखा गया। इसी तरह १९०० ई० तक भिन्न-भिन्न देश के अन्वेषक दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में पहुँचते रहे जिन्होंने ध्रुव प्रदेश में स्थित भूमि के तट और समुद्र का अन्वेषण किया, परन्तु १९०० ई० के वाद दक्षिणी ध्रुव तक पहुँचने के लिए अन्वेषकों ने प्रयत्न करना आरम्भ किया।

इस उद्देश्य से सन् १९०० ई० में कप्तान स्काट ने सव कुछ तैयार कर एक जहाज पर यात्रा की। उसके साथ एक दूसरा अन्वेषक लेफ्टिनैंट शैकेल्टन और ४० आदमी थे। समुद्र की यात्रा पार कर लेने पर इनका जहाज दक्षिणी महादेश के तट तक पहुँचा और वहाँ से वर्फ के ऊपर यात्रा प्रारम्भ हुई। इस यात्रा में दक्षिणी ध्रुव प्रदेश के अन्वेषण की कठिनाइयों का अनुभव हुआ। उत्तरी ध्रुव की खोज में अन्वेषकों ने जिस वर्फ के ऊपर यात्रा की थी, वह पानी के ऊपर जमी थी, ध्रुव के समीप कहीं भूमि न थी, परन्तु दक्षिणी ध्रुव स्थल-खंड में था और उसके चारों ओर भूमि के ऊपर वर्फ जमी थी। यह भूमि समतल नहीं थी, प्रत्युत एक वहुत ऊँचे पठार के रूप में थी। इसलिए ध्रुव तक पहुँचने के लिए इस ऊँचे पठार पर यात्रा करने की आवश्यकता थी। इस पठार में सर्वत्र वर्फ जमी थी और उसमें ऊँची पहाड़ियों के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर वड़े-वड़े दरार फटे थे। इस वर्फ के दरारों में गिरने पर मनुष्य

का कहीं पता नहीं लग सकता था। ये दक्षिणी ध्रुव के अन्वेषकों के लिए बहुत ही भयावह और संकट में डालने वाले थे। इन संकटों के अतिरिक्त निरन्तर बहने वाली बर्फ की आँधियां भी बहुत ही विपत्ति मे डालने वाली थीं। ऐसी भीषण स्थिति का अनुभव कर स्काट का दल ८२½° दक्षिण अक्षांश तक पहुँचकर लौट आया।

सन् १९०८ ई० में लेफ्टिनैंट शेकेल्टन ने दक्षिणी ध्रुव तक पहुँचने का प्रयत्न किया। वह न्यूजीलैण्ड द्वीप होकर दक्षिणी महा-देश के तट तक पहुँचा। उसने यात्रा में साथ देने के लिए मंचूरिया के कुछ टट्टुओं को साथ ले लिया था, लेकिन इनमें से कई शीघ्र ही मर गये। किसी तरह तीन और आदमियों के साथ शैकेल्टन ने ध्रुव तक पहुँचने के लिए बर्फ पर यात्रा प्रारम्भ की। उसके साथ स्लेजगाड़ियाँ और चार टट्टू थे। मार्ग पहाड़ी भूमि में होकर था, जिसमें तीन टट्टू थककर बेकार हो गए। चौथा टट्टू भी एक ग्ले-शियर की चढ़ाई मे एक बर्फ के दरार में गिरकर मर गया। इधर भोजन की सामग्री भी कम हो रही थी किन्तु चारों यात्री आगे ही बढ़ते गए। अन्त मे जब वे ८८° दक्षिण अक्षांश तक पहुँचकर ध्रुव से केवल ९७ मील की दूरी पर रह गये तो भोजन की बिल्कुल कमी से उन्हें विवश होकर लौटना पड़ा। शैकेल्टन की इसी यात्रा के पश्चात् स्काट ने फिर दक्षिणी ध्रुव तक पहुँचने का प्रयत्न किया जिसमें उसके सब साथियों के साथ उसकी मृत्यु हो गई। इस यात्रा की कथा बड़ी हृदय-द्रावक है। स्काट ने इस यात्रा के लिए बहुत तैयारी कर चुने हुए आदमियों के साथ जून सन् १९१० ई० में इंगलैंड से यात्रा प्रारम्भ की। उसके साथ टट्टू, कुत्ते और इंजिन से चलने वाली स्लेजगाड़ियाँ थीं।

२९ नवम्बर को जहाज न्यूजीलैंड से चला और दक्षिणी महादेश

के तट तक पहुँच सका। वहाँ पर जाड़े में ठहरने के लिए डेरे बनाये गए। स्काट ने यात्रा की सुविधा के लिए जाड़े के इस निवास-स्थान से ११४ मील दक्षिण की ओर एक स्थान में भोजन की सामग्री संचित करने के लिए डेरा बनाया। उसमें खाद्य-पदार्थ रख दिये गये जो अवसर आने पर काम दे सकें। वहाँ से जाड़े के निवास-स्थान तक लौटते हुए मार्ग में एक बर्फ की दरार में कुत्तों का एक दल गिर पड़ा जिसे बड़ी कठिनाई से ऊपर खींचा जा सका। एक दूसरे अवसर पर कुछ आदमियों और खच्चरों के साथ एक बर्फ की चट्टान खिसककर समुद्र में बहने लगी। उस पर के आदमी किसी तरह बचाये जा सके।

अक्तूबर सन् १९११ ई० में वास्तविक यात्रा के लिए सब कुछ तैयारी की गई थी। यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व कुछ आदमियों की टोलियाँ आगे के मार्ग में स्थान-स्थान पर खाद्य-भंडार सुरक्षित रख देने के लिए भेजी गयीं। जब यात्रा प्रारम्भ हुई तो आगे बढ़ते जाने पर थोड़े-थोड़े आदमियों की टोलियाँ पीछे लौटाई जाने लगीं। जब ध्रुव से केवल १४५ मील दूर ७८° दक्षिण अक्षांश तक पहुँचा जा सका तो स्काट के साथ चार ही यात्री रह गए, जिनके नाम डा० विलसन, कप्तान ओट्स, लेफ्टिनेंट बावर्स और एडगर इवान्स थे।

किन्तु जिस स्थान की खोज कर संसार में गौरव प्राप्त करने की आशा से स्काट ने वह यात्रा प्रारम्भ की थी, उस स्थान तक एक दूसरा अन्वेषक उसके एक मास पूर्व ही पहुँच चुका था। इसका नाम कप्तान एमंडसन था। कप्तान एमंडसन नार्वे देश का रहने वाला था। इसने पहली अगस्त सन् १९१० ई० में उत्तरी ध्रुव का अन्वेषण करने की तैयारी की थी, परन्तु उसी समय जब उत्तरी ध्रुव तक पियरी के पहुँचने का उसे संवाद मिला तो उसने वह विचार छोड़ दक्षिणी ध्रुव का अन्वेषक होने का गौरव प्राप्त करने के लिए तुरन्त दक्षिण की

ओर यात्रा की। उसके साथ नैन्सन का वह जहाज था, जिस पर नैन्सन ने उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने का प्रयत्न किया था। उस जहाज के साथ एमंडसन दो वर्ष के लिए खाद्य-पदार्थ लेकर दक्षिणी महादेश के तट पर पहुँचा। वहाँ उसने स्काट के जाड़े के निवास-स्थान से ४०० मील पूर्व की ओर अपना जाड़े का निवास-स्थान बनाया। वहाँ से आगे के मार्ग मे आठ आदमियों ने निरन्तर परिश्रम कर पाँच-पाँच मील की दूरी पर खाद्य-भंडार एकत्रित कर दिया, जिससे कुसमय किसी भी ऋतु मे काम निकल सके।

इस तरह तैयारी कर ८ सितम्बर सन् १९११ ई० को चार साथियों को लेकर एमंडसन ने दक्षिणी ध्रुव की यात्रा प्रारम्भ की, परन्तु कुछ ही दूर जाने पर अधिक पाले के कारण उसे लौटना पड़ा। फिर उसने १० नवम्बर को यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग में ऋतु अनुकूल रही, परन्तु अधिक आगे पहुँचने पर निरन्तर पाँच दिन तक वर्फ की आँधी चलती रही। आगे की ओर सर्दी इतनी अधिक हुई कि यात्रियों के मुँह और हाथ गलने लगे। अन्त में किसी तरह १४ दिसम्बर सन् १९११ ई० को एमंडसन अपने साथियों को लेकर दक्षिणी ध्रुव तक पहुँच सका। वहाँ पर एक काला झंडा गाड़कर वह सकुशल लौट गया।

जब स्काट अपने चार साथियों के साथ १७ जनवरी १९१२ ई० को दक्षिणी ध्रुव तक पहुँचा तो उसे एक दूसरे अन्वेषक को वहाँ पहले ही पहुँच जाने पर बड़ा शोक हुआ। इस प्रकार हाथ से सफलता छिनी जाते देख उसका हृदय बहुत ही क्षुब्ध हुआ। किसी प्रकार उसने लौटानी यात्रा आरम्भ की, परन्तु यही यात्रा उन सभी यात्रियों की अन्तिम घड़ी थी। लौटते हुए उन्हें बड़ी भीषण स्थिति का सामना करना पड़ा। उनका भोजन समाप्त हो चला था। और इसी समय इवान्स बीमार पड़ा, जिससे यात्रा तेज न की जा सकी।

अन्त में १७ फरवरी को मार्ग में ही इवान्स की मृत्यु हो गयी। इवान्स के पश्चात् कप्तान ओट्स बीमार पड़ा। उसे पाला मार गया था। ऐसी दशा में भी किसी तरह वह पैदल चलता रहा, परन्तु अपनी वजह से अपने साथियों को यात्रा में अधिक विलम्ब होते देख वर्फ की आँधी वहते समय वह एक दिन पड़ाव से बाहर चला गया और मृत्यु का बलपूर्वक आह्वान कर अपने साथियों को आगे बढ़ने के लिये निश्चिन्त कर दिया। कप्तान ओट्स का यह आत्म-त्याग अद्वितीय था, जिसकी समता अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती।

इस प्रकार अपने दो साथियों से बिछुड़कर शेष यात्री आगे बढ़ कर ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ से उनका पहले का एकत्रित खाद्य-भंडार केवल ११ मील ही था। उनके पास उस समय केवल दो दिन की खाद्य-सामग्री रह गयी थी, परन्तु उसी समय बड़े जोरों की वर्फ की आँधी वहने लगी और वे प्रचुर खाद्य-भंडार के इतना निकट होते हुए भी वहाँ तक न पहुँच सके। निदान मार्ग में डाले डेरे में ही उन सब की मृत्यु हो गई। स्काट ने मरते समय तक अपनी यात्रा का पूरा विवरण लिखना जारी रखा था।

जब इस दुर्घटना के पश्चात् स्काट के विषय में लोगों को कुछ भी ज्ञात न हो सका तो उसकी खोज करने के लिये लोग भेजे गये। उन्होंने स्काट और उसके साथियों के शव डेरे में पाये। स्काट का लिखा विवरण भी मिल गया, परन्तु बहुत खोज करने पर भी कप्तान ओट्स के शव का पता न चल सका। बहुत अधिक वर्फ गिरने के कारण उसकी लाश कहीं नीचे दब गयी थी।

पंचचूलि की चट्टान

पंचचूलि का अर्थ है पांच शिखर। यह पांच शिखर अल्मोड़ा नगर से १५० मील की दूरी पर आकर्षक एवं छविपूर्ण हिमश्रेणियों का एक समूह है। इनकी ऊँचाई समुद्र-सतह से २० हजार से २२,६५० फुट तक है। सर्वाधिक सुन्दर एवं आकर्षक शिखर २२,६५० फुट ऊँचा है।

कुछ लोगों के अनुसार पंचचूलि पांच पांडवों की स्मृति है। पांचों चोटियां ऊंचाई के क्रम से बढ़ती गई है, मानो प्रथम सहदेव, द्वितीय नकुल और शेष तीनों क्रमशः भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर की हों। जब पांडव अपना सर्वस्व त्याग कर हिमालय की यात्रा के लिये निकले थे, तो वे इसी प्रदेश में आये थे। उनका उद्देश्य तिब्बत जाना था, जिसे प्राचीन काल में स्वर्ग-भूमि भी कहते थे।

पंचचूलि के ठीक पीछे तिब्बत है। कहते हैं, प्राचीन काल में पंचचूलि के निकट से तिब्बत जाने का मार्ग था और इसी मार्ग से भारत तथा तिब्बत के बीच व्यापार होता था। परन्तु किसी वर्ष इतना भीषण हिमपात हुआ कि यह मार्ग रुक गया और तब से रुका पड़ा है। इस मार्ग में ८-१० हजार फुट की ऊँचाई पर कुछ प्राचीन खंडहर मिलते हैं, और भूमि का इतना अधिक विस्तार है कि जिससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय यहां कृषि होती होगी। पंचचूलि भारत और तिब्बत के मार्ग के बीच स्थित है। इसके अग्रभाग में मंदाकिनी नदी का जन्म होता है और पीछे की ओर सोना ग्लेशियर तथा दारमा घाटी है। दारमा घाटी के अधिवासी भोटिया कहलाते है।

भिन्न प्रयास

सर्वप्रथम टी० शारिंग ने १६०५ में इसकी खोज की थी। द्वितीय आक्रमण डा० लाँग स्टाफ ने किया। १६३३ में गौरीशंकर के आरोही-दल के नेता हग रटलैज को भी इस गिरि-माला ने मोहित किया था। किन्तु इनमें से कोई भी योद्धा इसके दर्शनों में सफल न हो सका। इसके वाद द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण पर्वतारोहण की प्रगति रुक गयी, किन्तु युद्ध-समाप्ति पर ख्यात अंग्रेज पर्वतारोही स्व० स्मिथ ने पुनः यत्न किया, लेकिन मौसम प्रतिकूल रहा। इन सवसे वढ़कर साहसपूर्ण यत्न स्काटिश पर्वतारोहियों के दल ने १६५० में किया। यह दल १६ हजार फुट की ऊँचाई तक जाकर असफल लौट आया। मई, १६५१ में नंगा पर्वत के आरोहियों (न्यूजीलैंड के फ्रैंक टॉमस तथा हेनी हेरर) ने पंचचूलि का वायुयान द्वारा हवाई दिग्दर्शन किया और १ जून को दक्षिण दिशा से पंच-चूलि पर आक्रमण किया। इस दक्षिण दिशा में शिलापानी ग्लेशियर है। इन्होंने १२ हजार फुट की ऊँचाई पर अपना आधार शिविर स्थापित किया। एक सप्ताह तक वे हिमशिलाओं से संघर्ष करते रहे किन्तु २१,४०० फुट से आगे वढ़ना न हो सका। उनके दल का एक सदस्य भी वर्फानी तूफान में लापता हो गया था; किन्तु वहुत कठिनाई के वाद अन्ततः उसका पता लग गया।

सफल भारतीय दल

किन्तु पंचचूलि की सवसे अधिक ऊँचाई तक पहुँचने का श्रेय एक भारतीय दल को हुआ कि जो १५ मई, १६५२ को पिलानी (राजस्थान) से चला था। इस दल ने स्वतंत्र भारत का राष्ट्र-ध्वज २२,१२५ फुट की ऊँचाई पर गाड़ा था। इस दल का संगठन पिलानी पर्वतारोही क्लव ने किया था। इसके नेता हिमाचल क्लव

के प्राणनाथ थे और प्रमुख पर्वतारोही अगवाल, दल के संयोजक गंगाप्रसाद शारदा, तीसरे सदस्य और चौथे सदस्य भटनागर चित्रकार थे। प्रथम रेल द्वारा टनकपुर पहुँचते है, जहां से ११ मील की यात्रा लारी द्वारा पिठौरागढ़ तक की जाती है। पिठौरागढ़ से पचचूलि १०५ मील है। पिठौरागढ ५ हजार फुट की ऊँचाई पर है। पिठौरागढ से ८० मील की दूरी पर चुलकोट नाम का अंतिम गाँव है। इसके बाद की २५ मील की यात्रा बड़ी भयंकर है। इस मार्ग में दुर्गम चट्टानें, गहन वन, भीषण नाले, ग्लेशियर, बर्फीली दरारें तथा हिमप्रदेश आते है। ज्यो-ज्यों ऊपर-ऊपर जाते है, मार्ग खतरनाक होता जाता है। प्रस्तुत आरोहियों के दल की संपूर्ण संख्या २६ थी। २३ मन बोझा था। चुलकोट तक डोटियाल जाते है और उसके बाद चुलकोट के आदमी लेने पड़ते हैं। यहाँ शिकारियों का दल भी साथ रखना होता है, क्योंकि मार्ग के जंगल में शेर, चीता, भालू आदि बहुतायत से होते है।

कुमायूं प्रान्त में नैनीताल को छोड़कर पिठौरागढ़ सबसे बड़ा नगर है। अलमोड़ा की अपेक्षा यह नगर बहुत सुन्दर है। यहाँ के अधिकांश व्यक्ति भारतीय सेना में काम करते है। टनकपुर चंपावत-पिठौरागढ सड़क यहाँ समाप्त हो जाती है। नेपाल के निकट और तिब्बत के मार्ग मे पड़ने के कारण इस नगर का राजनीतिक और व्यापारिक महत्त्व है। अलमोड़ा को छोड़कर समस्त कुमायूं और पश्चिमी तिब्बत में यही से आधुनिक साजो-सामान वितरित होता है। इस यात्रा-मार्ग मे अंतिम तार-घर केवल यहीं है।

२० मई, १९५२ को डोटियालों की पीठों पर लदे सामान के साथ आरोही दल पैदल-यात्रा के लिये निकला। 'पंचचूलि की जय' के नारों के साथ यात्रा आरम्भ हुई। लगभग १२ बजे ये काफिला कनाडी छीना नामक गॉव मे पहुँच गया। मार्ग में प्राकृतिक

सौन्दर्य की छटा को निहारते हुए, सुन्दर झरनों का सुस्वादु मीठा जल पीते हुए सहज ही मार्ग कट गया। २ घंटे के विश्राम के अनंतर दल ने पुनः दो बजे यात्रा आरम्भ की। सूरज की किरणें इतनी प्रखर थीं कि धूप के चश्मे लगाने पड़े। यहाँ से एकाएक भीषण उतराई आरम्भ हुई। निरंतर दो मील तक नीचे-ही-नीचे घाटी में उतरना था। इस घाटी के चरणों में पहुँचकर एक नाला दिखाई दिया। नाले को देखकर सभी को पानी पीने की लालसा हुई। नाले के बीच एक तिकोनी लाल रंग की चट्टान को देखकर पर्वतारोही उस पर चढ़ गये। क्या देखते हैं कि इस चटट्रान की दूसरी ओर प्रकृति ने एक मनोरम झील को छिपा रखा है। प्रकृति के इस कोष को यहीं छोड़कर दल आगे बढ़ा।

एकाएक बादलों का समूह आ गया। इतनी तीव्र सूर्य की किरणों के बाद एक दम वर्षा होगी। बात-की-बात में चीड़ के जंगल में अंधकार छा गया। गगन-चुम्बी चीड़ के पेड़ वायु के वेग से लड़खड़ाने लगे। साँ-साँ के शब्द से जंगल का वातावरण अधिक भयावना हो उठा। अँधेरा और भी गहरा हो गया। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। तीन फुट चौड़ी पगडंडी में २६ व्यक्तियों की कतार धीरे-धीरे बढ़ रही थी। मेघों की सघनता से बिजली कौंधने लगी। रह-रह कर बिजली की कौंध से अंधकारमय वातावरण क्षण भर को आलोकमय होकर पुनः अंधकार का गर्त बन जाता। और तब, मूसलाधार वर्षा आरम्भ हुई। सभी ओर मिनटों में पानी ही-पानी! फिर भी दल बढ़ रहा था। वर्षा से बचने के लिए बरसातियों का पूर्ण प्रबन्ध था, किन्तु सब भीग गए। कुछ और बढ़ने पर एकाएक भीषण धमाका-सा हुआ। दल से केवल २० फुट सामने की दिशा में बिजली गिरी। इतना भीषण गर्जन! मानो

कानों के पर्दे छिद गए हों। सारा दल स्तंभित रह गया। डोटियालों की पक्ति का जैसे उत्साह भंग हो गया था। "वाबू जी, देवि भेंट चाहती है।" सारा दल ऐसे हो गया कि केवल पत्थर के वुत हों। विजली एक पेड़ पर गिरी थी। वह जल रहा था। वर्षा का वेग वढ रहा था। संध्या के कारण अंधकार वढ गया था। किन्तु निर्दिष्ट पड़ाव दूर था। रात हो गई। तिस पर भी दल वढ़ रहा था, आगे-ही-आगे। वर्षा और आँधी के आघात सहन करता हुआ दल रात को दस वजे सिंगोली पहुँचा।

सिंगोली में एक पहाड़ी परिवार के यहाँ आरोहियों ने उनींदे रात वितायी। रात भर वर्षा होती रही। और जव सुवह हुई तो आकाश धुल चुका था। प्रकृति निखर गई थी। प्राकृतिक सौंदर्य की छटा ही निराली थी। पेड़ों की पत्तियों से वूँद-वूँद वनकर मोती-से टपक रहे थे। इस सुन्दर सुखद वेला में यात्रा का पुनः आरम्भ हुआ। सिगोली से कुछ आगे वढ़ने पर पंचचूलि के शिखरों पर वाल-रवि की किरणों का नर्तन देखकर मानो आँखों की अनंत साध पूर्ण हुई। हिमाच्छादित पर्वतमाला में गिरि-शृंग वेगवती लहरों के समान जान पड़ रहे थे। जैसे एक के वाद एक लहर उठ-उठ जा रही हो। प्राकृतिक सौन्दर्य का पान करते हुए दल अस्कोट पहुँच गया। अस्कोट पिठौरागढ़ से २८ मील के अंतर पर है। इस मार्ग में यह अंतिम वड़ा कस्वा है।

१२ वजे पुनः यात्रा आरम्भ हुई। केवल एक सौ कदम चलने के वाद भीषण उतराई शुरू हो जाती है। इस उतराई में वेहद फिसलन है। लाख यत्न करने पर भी पाँव को रपटने से वचाया नहीं जा सकता। इसी रपटन के फलस्वरूप दल के एक श्रमिक को भयंकर चोट भी आई। यह चार मील की एक साथ उतराई है।

संपूर्ण मार्ग में केवल एक पहाड़ी घर है । लगभग दो वजे उतराई समाप्त हुई। उतराई की समाप्ति पर नीचे गौरी नदी है। गौरी नदी पर एक लम्बा पुल वना हुआ है। पुल के पार एक चाय की दुकान है। इस स्थान को गर्जिया कहते हैं। यहाँ से एक मील के अंतर पर गौरी और काली—दो नदियों का संगम है। काली नदी तिब्बत के प्रसिद्ध हिम-मार्ग लिपू से आती है, जहाँ दोनों नदियों का संगम होता है; उसे जोलजीवी कहते हैं । जोलजीवी भोटिया लोगों की वस्ती है। यहाँ कार्तिक मास में एक विशेष मेला भरता है। इस मेले में भारत के दूर-दूर के नगरों से व्यापारी खालें तथा फरें खरीदने आते हैं । ऊन का सामान—थुल्मे, चुटके, नमदे, ऊनी शाल आदि—भी इस मेले में विकता है। वदले में भोटिया एवं तिब्वती लोग ताँवे के वरतन, नमक तथा अन्य आवश्यक सामान खरीद ले जाते हैं। कोई समय था, जवकि इस मेले में वस्तु-विनिमय, अर्थात् वस्तुओं के वदले वस्तुएँ, होता था । किन्तु अव तो मुद्रा-चलन की प्रगति से मुद्रा द्वारा ही क्रय-विक्रय होता है।

४ वजे तक विश्राम के अनंतर पुनः यात्रा आरम्भ हुई। गौरी नदी का पाट लगभग २५-३० हाथ चौड़ा होगा। दोनों तटों पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं। पर्वतों पर सघन वृक्ष हैं या यूँ कहिए कि घने जंगल हैं। इन्हीं निर्जन जंगलों में से होकर नदी का मार्ग है और उसके एक तट पर आगे वढ़ने का एक तंग-सा रास्ता। इन सुनसान जंगलों में हिंस्र पशुओं के आक्रमण का डर रहता है। दल वढ़ रहा था । अन्धकार हो चुका था। आठ वज चुके थे, किन्तु गर्जिया से थम, वरम और चामी नाम के पहाड़ी ग्रामों को पीछे छोड़कर केवल ९ मील की यात्रा तय हो पाई थी। रात्रि के कारण डेरा डालना अवश्यक था, किन्तु डेरा लगाने की जगह कहीं दीख नहीं

पड़ी। आरोहियों में से शारदा डेरा लगाने के लिए दो श्रमिकों को साथ लेकर स्थान खोजने निकले। अनेक झाड़-झंखाड़ों को हटाते-हटाते वह इधर-उधर भटक रहे थे। एकाएक झंखाड़ में प्रकाश की चमक! तीनों रुक गये। कोई हिंस्र जीव होगा। आगे खतरा जान पड़ा। अभी आक्रमण हुआ कि हुआ। जैसे दिल और दिमाग खो जाते हैं; दोनों श्रमिक पास के पेड़ पर बात-की-बात में चढ़ गए। शारदा को रस्सी के सहारे ऊपर खींच लिया गया।

और तब पता चला कि वह तो जुगनू की चमक थी। सारे दल ने हँसी के ठहाके से निर्जन वन को गुंजा दिया। पेड़ से उतर नदी के तट पर एक मछली-शिकारी की झोंपड़ी में दल ने रात्रि-भर विश्राम किया। विश्राम का तो केवल नाम था। रात भर वर्षा होती रही। झोंपड़ी की छाया में भी यात्री भीगते रहे। सुबह ४ बजे मेंह रुका। चाँद ने बादलों की ओट से झाँकना आरम्भ कर दिया था। उसकी सुखद-शान्त किरणों से प्रकृति दूधिया बन गई थी, और यात्रियों ने स्टोव जलाकर तापने का उपक्रम किया। इसी बीच बाल-रवि ने अपने अयन से झाँकना आरम्भ कर दिया। रात के भीगे वस्त्रों को हवा देकर ९ बजे यात्रा आरम्भ हुई।

चार मील चलने के अनंतर लूमती नाम का ग्राम आया। इससे पूर्व ४० मील की पैदल यात्रा की जा चुकी थी। लूमती के बाद बिजली नाम के ग्राम को पार कर यात्रियों का आज निर्दिष्ट स्थान शेराघाट था। रात के लगभग ९ बजे शेराघाट के नीचे के मैदान में आरोही पहुँच गए। शेराघाट इस मैदान से एक मील के अंतर पर किसी पहाड़ की ढलान पर बसा हुआ है। वहाँ जाने का निश्चय छोड़कर रात्रि उसी मैदान में बितायी गई। इस निर्जन प्रदेश में भी एक छोटा-सा शिव-मन्दिर तथा किसी साधू की कुटिया

दिखाई दे ही गई। आगामी दिन के लिये अंतिम वस्ती चुलकोट तक पहुँचने का निश्चय किया गया। चुलकोट से आगे के मार्ग में कोई ग्राम या वस्ती नहीं है।

शेरघाट में पुनः रात भर वर्षा होती रही। क्षीण तंवू रात भर की वर्षा का भला क्या मुकावला करते। प्रातः होते ही आकाश स्वच्छ हो चुका था। फलतः संपूर्ण दल अपने निर्दिष्ट लक्ष्य चुलकोट के लिए रवाना हो गया। चुलकोट तक का मार्ग सुखमय रहा। निर्बाध सारा दल नियत समय पर पहुँच गया। चुलकोट में गौरी और मंदाकिनी का संगम है। पंचचूलि जाने वालों के लिये इससे आगे ऐसा कोई कस्वा नहीं। फलतः दल ने खाद्य-सामग्री का अधिक संचय किया। उपरान्त अपने लक्ष्य की ओर वढ़ा। लगभग एक सप्ताह की यात्रा के अनन्तर दल पंचचूलि के एक शिखर (२२,२५७ फुट की ऊँचाई) पर पहुँच गया। दल के सदस्यों ने जिस सफलता के साथ यह आरोहण किया था, उसे देखकर उनके हृदय फूले नहीं समाते थे। दल ने वहाँ राष्ट्र-ध्वज फहराया और राष्ट्र-गान गाया। भारतीय आरोहियों की यह प्रथम सफलता अन्यों को प्रेरणा प्रदान करने के साथ-ही-साथ देश के भावी नागरिकों को भी ऐसे साहसिक कार्यों के लिए प्रोत्साहित करती रहेगी।

भू-मार्ग द्वारा पेरिस से न्यूयार्क—१

एक साहसी एवं अनुभवी पर्यटक भू-मार्ग के द्वारा न्यूयार्क से पैरिस पहुँचने के इरादे से १८९६ में रवाना हुआ। उसका विचार बेरिंग अंतरीप की राह होकर निकलने का था, किन्तु साइबेरिया के उत्तर-पूर्वी तट के मूल-वासियों ने उसे पकड़ लिया। भाग्यवश एक ह्वेल मछली पकड़ने वाला अमरीकी जहाज उधर से निकल रहा था, और उसके कप्तान ने उसे मुक्ति दिलाई। फलतः, वह अपने निश्चय को पूर्ण न कर सका। १९०२ में उसने पुनः निश्चय किया कि लगभग १९ हजार मील की इस यात्रा को पूर्ण करना ही चाहिए। और अब की वार उसकी यात्रा पैरिस से न्यूयार्क थी। पूर्व की यात्रा में यद्यपि वह असफल तो रहा था, किन्तु उसे जो अनुभव हुए थे, वह अमूल्य थे। उन अनुभवों के आधार पर वह निश्चय ही दूसरी वार के यत्न में सफल होगा, इस धारणा के साथ फ्रांसीसी मि० हैरी द विद अपने दो साथियों सहित १९ दिसम्बर १९०१ को पैरिस से रवाना हुआ। मि० हैरी उस यात्रा को सफलतापूर्वक समाप्त करने के लिये उत्सुक था, क्योंकि इससे पूर्व किसी भी पर्यटक ने यह साहस नही किया था। तिस पर, वह यह भी प्रमाणित करना चाह रहा था कि संभवतः पैरिस से न्यूयार्क तक रेल वनाई जा सकती है।

उसकी यात्रा के प्रारम्भिक भाग के विस्तृत विवरण की चर्चा छोड़कर हम आगे वढ़ते है। १९ दिसम्बर को रवाना होकर मि० हैरी तीन दिन मे १८०० मील की यात्रा करके मास्को पहुँच गया। अच्छी ऋतु मे आगन्तुकों के लिए यह नगर विशेष आर्कषण का केन्द्र है। यह नगर प्राचीन सौन्दर्य

का नमूना है। जहाँ-तहाँ बड़े-बड़े गुम्बद, मीनार और दो-मंजिले, तिमंजिले मकान दिखाई देते हैं। किन्तु द विंद रूसी जाड़े के दिनों में अपनी अपूर्व यात्रा के लिये निकाला था, इसलिए इस नगर के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने से वह वंचित रहा और कुछ दिनों के लिए उसे वहीं रुकना पड़ा। लगभग १५ दिन उसे मास्को में रहना पड़ा और अन्ततः, ४ जनवरी, १६०२ की संध्या को वह साथियों सहित मास्को से साइवेरियन एक्सप्रैस द्वारा इर्कुत्स्क के लिए रवाना हुआ। इर्कुत्स्क पूर्वी दिशा में बैकल झील के दक्षिणी छोर के निकट लगभग ४ हजार मील के अन्तर पर है।

इस भाग की यात्रा में ६ दिन लग गये। कभी-कभी चीड़ के घने जंगलों से निकलना होता था, किन्तु अधिकांश भाग में प्रायः एक ही से दृश्य दिखाई पड़ते थे। रेल-मार्ग के दोनों ओर ऊँची-श्वेत पहाड़ियाँ दूर क्षितिज तक फैली हुई दिखाई देतीं थीं। यूराल पर्वत-मालाओं को पार करने पर उनके पूर्व में दक्षिणी साइवेरिया के हिमाच्छादित मैदान आ जाते हैं। इन मैदानों में से इर्कुत्स्क पहुँचने वाली रेल बढ़ रही थी और उसकी गति संभवतः २० मील प्रति घंटे की थी। अधिकांश दिनों में सूर्य स्वच्छ-निर्मल आकाश में उदित होता और उससे रेल के डिब्बों के भीतर का तापमान पर्याप्त सुखकर हो जाता, किन्तु बाहर तो शून्य से १० डिग्री नीचे पारा रहता था। जैसे-तैसे १३ जनवरी को इर्कुत्स्क भी आगया। दल के प्रत्येक सदस्य ने सुख की साँस ली। स्टेशन से निकलकर उन्होंने एक घोड़ागाड़ी ली, जो प्रायः ऊपर से खुली होती है। उन्हें तीन मील के अन्तर पर जाना था। बरफ पड़ रही थी। अत्यधिक शीतल वायु के थपेड़ों को देखकर वे सहज ही जान गए कि उनकी धारणा का आगामी पथ कितना दुर्गम है !

इर्कुत्स्क में वह ५ दिन रहे। उस समय इस नगर की जनसंख्या ८० हजार थी। एशिया के सब भागों के लोग यहां दिखाई देते थे। जो भी हो, दल के सदस्यों की इच्छा थी कि जितना भी जल्दी हो, यहां से रवाना हुआ जाय, क्योंकि जिस "मीट्रोपोल" होटल में वह ठहरे थे, उसका नाम तो बहुत शानदार था, किन्तु रहन-सहन और खाना-पीना इतना घटिया था कि कुछ न पूछो। तिस पर मूल्य लण्डन से भी कहीं अधिक थे। सोने के कमरे बदबूदार, गंदे और अँधेरे थे। खाना बहुत ही बुरा था और उससे भी बढ़कर बुरी होटल की 'सर्विस' थी। स्वतः इर्कुत्स्क के वाजार ऊबड़-खावड़ थे। सड़कें टूटी हुई थीं और सफाई नाम को न थी। नगर की नैतिक दशा यह थी कि पुलिस के कथनानुसार प्रति दिन एक हत्या हो जाती थी। इसी कारण हमारे यात्रियों की इच्छा थी कि जितना भी शीघ्र हो, २,००० मील के अन्तर पर याकुत्स्क के लिए यात्रा आरम्भ की जाय। याकुत्स्क के लिए स्लेज द्वारा (वरफ पर वेपहिये के चलने वाली गाड़ी) जाना था। उनके पास वन्द डिव्वों में खाद्य की वहुत सी पेटियाँ थीं; किन्तु उनकी इच्छा थी कि आर्क्टिक क्षेत्र तक उनके पास पर्याप्त खाद्य-सामग्री रहनी चाहिये। फलतः उन्होंने माँस और मछली के वहुत से वन्द डिव्वे खरीदे, चाय के डिव्वे मोल लिये और उपरान्त, गवर्नर से पार-पत्र (पासपोर्ट) लेकर द विद अपने दोनों साथियों सहित १९ जनवरी की प्रातः रवाना हुआ। जिन स्लेज गाड़ियों मे वह वैठे थे, वह टूटी-फूटी और घटिया-सी वनी हुई थी। यह चार फुट गहरी होती है और लकड़ी की वनती हैं। यात्री नीचे सामान विछा लेता है और उस पर स्वयं लेट जाता है। यदि आवश्यकता हो तो उसे तिपाल से ढक दिया जाता है। रात भर की निद्रा के उपरान्त जव उसकी आँख खुलती है, तो

उसे जान पड़ता है कि उसके वस्त्रों में किसी प्रकार नमी हो गई होती है। किन्तु तिपाल होने के कारण उसका मुँह तो सुरक्षित रह जाता है।

इर्कुत्स्क से १५० मील के अन्तर पर लेना नदी है। याकुत्स्क के मार्ग मे लेना तक चीड़ के जंगलों में से होकर निकलना होता है। किन्तु इस प्रथम चरण के वाद नदी का जमा हुआ जल स्लेज गाड़ियों की सड़क वन जाता है। इस मार्ग को प्रकट करने के लिए जहाँ-तहाँ चीड़ की टहनियाँ वर्फ में लगी रहती हैं। यह संकेत अत्यावश्यक है, क्योंकि मार्ग में जहाँ-तहाँ गरम पानी के स्रोत भी हैं, और वहाँ बरफ खंडित हुई रहती है। और यदि थोड़ी भी भूल हो जाय, तो घोड़ों सहित स्लेजगाड़ी बरफ में लापता हो सकती है।

प्रारम्भ में चिलचिलाता जाड़ा पड़ रहा था। एक रात को तो पारा शून्य से भी ६५ डिग्री नीचे था। याकुत्स्क के दक्षिण में इससे न्यूनतम तापमान दृष्टिगत नहीं हुआ और वहुधा शून्य से २ डिग्री से लेकर ४० डिग्री नीचे तक तापमान रहता है। इस शीत के तापमान का स्पष्टीकरण द विंद ने इस प्रकार किया है। उसके कथनानुसार यात्रा करते हुए तम्बाकू पीना सर्वथा असम्भव होता है। यदि तम्वाकू को जलाया जाय, तो एक ही क्षण में वह जम जाता है। ओठों में सिगरेट जलाने के कुछ ही मिनट बाद सिगरेट वर्फ की पतली झिल्ली के साथ ओठों में ही जम जाती है। एक वार एक यात्री ने वहाँ के चित्र लेने चाहे थे और इस उद्देश्य से उसने अपने भारी-भरकम दस्तानों को उतारा। कैमरे को ठीक करते हुए उसकी अँगुलियों ने अकस्मात् एक धातुभाग का स्पर्श कर लिया। उसे ऐसा लगा कि उसने लाल सुर्ख लोहे की छड़ को छू लिया हो। प्रायः वह मार्ग में दूध ले लिया करते थे और वह स्लेजगाड़ी से लटका रहता

पहुँचकर यूरोप जाना चाहते थे। उन्होंने एक बहुमूल्य खोज की थी। अन्ततः इस खोज को सेंट पीटर्सबर्ग के विज्ञान-विभाग में सुरक्षित रख दिया गया।

ओलकमिन्स्क से चलने के बाद आगे का प्रदेश और भी सूना और एकाकी हो गया और लेना का मार्ग अधिकाधिक दुर्गम जान पड़ने लगा। अन्त में एक दिन—१४ फरवरी को प्रातः समय प्रकृति द्वारा आच्छादित शर्माम हिम-श्वेत-पट के विस्तार का अन्त हुआ और उन्हें मीनारों तथा मकानों के दर्शन हुए। साइबेरिया-सभ्यता की उत्तर-पूर्वी चौकी—याकुत्स्क उनके सामने था। साइबेरियावासी इस नगर को "विश्व का अन्त" कहते थे। यहाँ वे एक पुलिस अधिकारी के अतिथि हुए, जो बहुत ही नम्र एवं मृदु-भाषी था। याकुत्स्क यों तो बड़ा एकाकी एवं उदास-सा नगर है, तिस पर भी अपने आतिथेय के कारण उन्हें वह अच्छा ही लगा। बहुत ही थोड़े दिनों को यहाँ गरमी का मौसम भी होता है और उन दिनों आँधियाँ आती हैं और मच्छरों तथा पिस्सुओं का भी बोलबाला हो जाता है।

स्लेज गाडियाँ अब छोड़ दी गई थी और अब बारहसिघा की छोटी-छोटी गाडियाँ खरीदी गई थीं। इनका आकार मुर्दे के विमान जैसा होता है और उस पर छत पड़ी होती है। इसे चार हिरण खींचते हैं—दो-दो की जोड़ी मे लगकर। याकूती स्लेज गाड़ियों की अपेक्षा ये अधिक सुखकर होती है। इसी स्थान पर दल के सदस्यो ने अपनी योरोपीय पोशाकें भी उतार दीं, क्योंकि इस आर्क्टिक क्षेत्र की जलवायु में मूलवासियों की फर की पोशाकों के विना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। ६ गाड़ियाँ ली गईं। दो में खाद्य-सामग्री भरी गई और चार में दल के तीन सदस्य तथा एक साइबेरिया से लिया हुआ मार्ग-दर्शक। यह मार्ग-दर्शक इस मार्ग का अनुभवी आदमी था। यह कई राजनीतिक कैदियों

के साथ स्रेडनी कोलीम्स्क की चौकी तक कई बार जा चुका था। आतिथेय पुलिस अधिकारी तथा अन्य कई निर्वासितों ने द विंद से वहुतेरा कहा कि वह दुर्गम यात्रा का विचार छोड़ दे किन्तु उस पर किसी के कहे का प्रभाव न हुआ। फलतः उन्होंने द विंद को शुभकामनाओं के साथ परमात्मा के भरोसे पर विदा किया। बहुत देर तक वह गाड़ियों की उस छोटी-सी पंक्ति को शंकातुर आँखों से देखने का यत्न करते रहे। और लौटते समय याकुत्स्क का यह छोटा-सा दल कह रहा था, "वह वीर है, वह साहसी है, किन्तु वह स्वयं अपनी मृत्यु के निकट जा रहा है।"

२१ फरवरी की रात को द विंद अपने साथियों सहित याकुत्स्क से चला था। उसे ६२५ मील उत्तर दिशा में वेरिकोयिआॅस्क पहुँचना था। याकुत्स्क तक की यात्रा की महान् कठिनाइयों की तुलना में इस मार्ग की कठिनाइयाँ और भय उनके लिए महत्त्वहीन वन गये थे। लेना-मार्ग के आश्रय-स्थल जितने गंदे और बुरे थे, उतने ही हिरण मार्ग के ये स्थल सुखकर और शुद्ध थे। यह आश्रय-स्थल लकड़ी के बने थे। वहुत छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ थीं। लकड़ी की दीवारें मिट्टी से पुती थीं। उनकी छत बहुत नीची थी। भीतर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश रहता। दिन-रात इनमें आग जलती रहती। इनमें आग जलते रहने तथा भीड़ के कारण प्रायः इतनी गरमी हो जाती थी कि अन्दर बैठना कठिन हो जाता। इन्हीं में लोग खाना भी बनाते और अक्सर उसमें एक-आध पशु भी वहाँ जरूर होता। विभिन्न २६ से ४० मील के अंतरों पर आश्रय-स्थल बने हुए थे। इन पड़ावों से यात्री खाना लेते और आगे वढ़ जाते। इन पड़ावों के वीच जहाँ-तहाँ लकड़ियों के ढेर मिल जाते। यात्री पानी गरम करने के लिए उन्हें ईंधन के रूप में जलाते और गरम पानी की थैलियाँ अपने फरों की पोशाक में रख लेते जिससे भीतर गरमी वनी रहे।

याकुत्स्क के उत्तर से १०० मील निकलकर पूर्वी दिशा में मुड़ना हुआ। यह अलदान भी बर्फीली भूमि है। यहाँ यात्रियों को वहुत ही

असुविधा का सामना करना पड़ा। गाड़ियाँ कभी इधर झुकतीं कभी उधर। क्योंकि सपाट वरफ पर वारहसिंघों के पाँव रपट-रपट जाते थे। मार्ग में जहाँ-तहाँ गड्ढे थे, और हाँकने वाले को बहुत सावधानी के साथ गाड़ी हाँकनी होती थी। तनिक भी चूक जाय तो सारा खेल तमाम हो जाता। समुद्र-तल से ८,५०० फुट ऊँचे वेरकोयिआरक पर्वतों को पार करके याना नदी के किनारे उत्तरी दिशा में चलना हुआ। बेटीकुल नामक पड़ाव पर द विद को एक चौकी के स्वामी का भोज-निमंत्रण स्वीकार करना पड़ा। अपनी ओर से चौकी-स्वामी ने शान-दार भोज तैयार किया था। उसने वारहसिंगे के सींगों का शोरवा वनाया था। सुगंधि के लिए चीड़ की पत्तियों का बघार भी दिया गया था। इसके बाद वड़े-वड़े प्याले आये, जो पिघले मक्खन से लवालव भरे थे और अतिथियों से आशा की गई थी कि वे गटागट पी जाएँगे द विद के पथ-प्रदर्शक के लिए यह नई वात नही थी। वह तो गटक गया। किन्तु शेष योरोप-वासी वेचारे परेशान थे। उन्हें तो शोरवे में से उठने वाली चीड़ की गन्ध से मिचली आ रही थी। मक्खन पीना उनके वस का रोग नहीं था। आतिथेय और उसकी पत्नी फौरन सब साफ कर चुके थे। किन्तु द विद और उसके साथी वहुत कुछ समझाये जाने पर भी न पी सके। और आखिर मुस्कराते हुए उन्हें उठना पड़ा।

याना की निचाई की ओर जाते हुए उन्हें भीषण शीत का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि स्लेज गाड़ियों की छत के नीचे भी थर्मा-मीटर शून्य से ४० डिग्री नीचे दिखा रहा था। जब वह एक पड़ाव से चलते थे, तो वह गरम होते थे और तीन या चार घण्टे तक यह गरमी रहती। किन्तु अनन्तर फर-पोशाकों मे जाड़ा अन्दर-ही-अन्दर घुसने लगता। उनके शरीर के अंग-अंग ठंडे पड़ जाते। उनकी निकलती हुई साँस उनके चेहरों पर पड़े टोपों पर जम-सी जाती थी। और उस अनन्त ठंड के वाद पुनः पड़ाव आता और वे निर्जीव-से होकर आग तापने के लिए चौकी की ओर लपकते।

मातृ-भक्त शूरा

रूस के तुला प्रान्त में घने जंगलों से आच्छादित एक गाँव है, जिसका नाम है पेस्कोवौद्स्कोय। ७ मार्च सन् १९२५ ई० को इसी गाँव में शूरा चेकालिन का जन्म हुआ था। शूरा के पिता प्रथम दरजे के खिलाड़ी और शिकारी थे। इसलिए गाँव के चतुर्दिक सघन वन उनके लिए स्वर्ग-तुल्य था, और शूरा के लिए भी वह था साहस और प्रसन्नता प्रदान करने का असीम साधन! छुटपन में ही उसने बन्दूक से निशाना मारना सीख लिया था। प्रायः माता से लुक-छिपकर और कंधे पर अपनी छोटी बन्दूक लेकर वह निकल पड़ता था जंगल की ओर—एकाकी दशा में। और छोटे-छोटे जंगली जानवरों और पक्षियों से लदकर घर लौट आता था। जीवन के इसी क्रम में वह वचपन से ही मछलियों और अन्य जल-जन्तुओं के शिकार में भी प्रवीण हो गया।

वन्य-पशुओं और जल-जन्तुओं के आखेट तक ही शूरा का साहस सीमित न था। वह घोड़ों को भी वहुत चाहता था। उच्छृङ्खल-से-उच्छृङ्खल घोड़ों को सर करने की दक्षता उसने प्राप्त कर ली थी और अपने गाँव का एक सुदक्ष अश्वारोही वन गया था। विना पलान के घोड़े की खुली पीठ पर वह कूदकर चढ़ जाता था और उसकी अन्तिम गति से उसे दौड़ाने में जरा भी नहीं हिचकता था। उसके पिता मधुमक्खियाँ पाला करते थे, इसलिए उसे भी मधुमक्खियों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई। उसने उनका अध्ययन किया और वात-की-वात में उनकी देखभाल करने की कला सीख ली। जंगली मधुमक्खियों की ओर भी उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। उसने वृक्षों के कोटरों के भीतर लगे हुए मधुमक्खियों के छत्तों का पता लगाने

की भी कला सीख ली थी। ऐसे वृक्षों को वह काट डालता, छत्तों से मधु निचोड़ लेता और घर लाकर चाव से खाता। इस कार्य में उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता था।

आधुनिक यंत्रों की ओर भी शूरा की प्रवृत्ति न्यून नहीं थी। अमेरिकन बालकों की तरह यन्त्रों और औजारों के साथ खेलना, उनका प्रयोग सीखना, वह बहुत पसन्द करता था। जब कभी उसके घर से बिजली के प्रकाश में गड़बड़झाला उपस्थित हो जाता, वह तत्काल उसे ठीक कर देता था। अगर खेत-खलिहान में कोई औजार टूट जाता तो उसे मरम्मत करने में सदा अग्रसर रहता। उसने स्वतः अपना रेडियो सेट तैयार कर लिया था। जब उसे किसी ने उपहार-स्वरूप फोटोग्राफी का एक 'कैमरा' दिया, तब इस कला से भी उसने जानकारी हासिल कर ली।

इस प्रकार विभिन्न अभिरुचियों से सम्पन्न और वाह्य जीवन की पूर्णता प्राप्त करने की उत्कंठा से सुसज्जित होकर शूरा निर्भीकता-पूर्वक जीवन-क्षेत्र में अग्रसर हुआ। जंगल की सैर करने में उसे जितना मज़ा मिलता था, उतना ही आनन्द उसे सुन्दर भू-भाग की यात्रा करने में भी प्राप्त होता था। प्राकृतिक दृश्यों और ध्वनियों की ओर उसके नेत्र और कान लगे ही रहते। सभी दिशाओं मे उसकी बुद्धि प्रखरता को प्राप्त करती। वह तीक्ष्ण और स्पर्शी पर्यवेक्षक था। कही भी जाने में, किसी भी साहसिक कार्य को संपादन करने में वह कभी हिम्मत नहीं हारता—इन्ही अभ्यासों और गुणों से सम्पन्न होकर शूरा ने जीवन के सघर्ष का सामना किया।

शूरा प्रतिभा-सम्पन्न और अध्ययनशील विद्यार्थी भी था। उसे पुस्तकों से प्रेम था। उसके प्रिय लेखक थे—टालस्टाय और गोर्की। वह रूसी इतिहास का एक मननशील विद्यार्थी था। जिन रूसी वीरों

ने रूस के लिए विदेशी दुश्मनों पर विजय प्राप्त की, उनके नामों और कार्यों के प्रति उसका हृदय श्रद्धा और भक्ति से सदा ओत-प्रोत रहता था। उसके छोटे भाई का नाम 'वित्या' था। दोनों भाई एक ही कमरे में रहते थे, साथ ही खाते-खेलते और साथ ही शिकार खेलने जाया करते थे।

ऐसा तेजस्वी और कर्मठ शूरा गृह-कार्य में भी निपुण था। जब कभी उसके माँ-बाप कहीं यात्रा में जाते वे शूरा के सम्बन्ध मे बेफिक्र रहा करते थे। माँ-बाप की अनुपस्थिति में शूरा अपने छोटे भाई की देखभाल करता, स्वयं भोजन भी पका लेता और जूठी रकाबियाँ भी धो डालता। गाय को चाव से खिलाता-पिलाता, उसे दूहता और अन्य पालतू पशुओं की भी देख-भाल करता।

वह स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ था—चौड़ा पृष्ठभाग, विशाल वक्ष-स्थल और मँजी हुई गर्दन थी उसकी। आँखे काली तथा बाल भी घने और काले। स्मरण-शक्ति तो ऐसी तीव्र थी कि किसी विषय को एक बार पढ़ लेने से ही उसे सब स्मरण रहता था। प्रसन्न-वदन, मिलनसार और मित्रों के बीच वह इतना लोकप्रिय था कि संध्या समय उसका आवास बालक-बालिकाओं का अड्डा ही बना रहता था और गुलगपाड़ा इतने जोर से होने लगता था कि पड़ोस वालों की उसकी माता के पास बराबर शिकायत पहुँचती रहती—"तुम्हारा घर खेल का मैदान बन गया है।"

शूरा का सबसे अधिक घनिष्ठ मित्र और साथी था 'एण्डरी इजौतोव' जो 'ग्रीनमीडो' नामक निकटवर्ती गाँव का निवासी था। एण्डरी प्रायः शूरा के घर पर आता और कभी-कभी कई दिनों तक उसी के यहाँ रहता। दोनो साथ मिलकर जंगली फलों को तोड़ने, मछली मारने, और शिकार खेलने जाया करते। दोनों शूरा के पिता को भी अनेक

घरेलू कार्यो मे मदद पहुँचाते। कभी सूखी घास के गट्ठरों पर बैठकर दोनों मित्र या तो पुस्तके पढ़ते, या तरह-तरह के वार्तालाप में संलग्न रहते अथवा घास पर ही सो भी रहते। शूरा की माता कहा करती थीं—'मेरा पुत्र मेरे जीवन की एक मात्र प्रसन्नता है।' और वह भद्र-महिला शूरा को उसके साहसिक कार्यो में प्रोत्साहित करती रहती थी। उसे दृढ़ विश्वास था कि मेरा पुत्र बड़ा आदमी होगा—सम्भवत: एक बड़ा इंजीनियर या विज्ञानवेत्ता !

२

युद्ध का सूत्रपात हुआ। शूरा ने कहा, "लड़ाई बड़ी भयंकर होगी, माॅं, मै भी पिताजी के साथ युद्ध करने जाऊँगा।"

माँ सहसा उदास हो गई। वह चाहती थी, शूरा खेले-कूदे, पढ़े-लिखें और धन तथा यश अर्जन करे। लेकिन यह क्या, वह तो लड़ाई में जाने को उतावला हो उठा है। माता अपने गाँव की मेयर थी, नेतृ ! गत छ: वर्षो से गाँव की बागडोर उसी के हाथ में थी, महान् उत्तर-दायित्व का भार था उस पर। युद्ध के लिए अपने ग्रामवासियों को प्रोत्साहित और प्रेरित करना उसका एकान्त कर्त्तव्य था। उसने अपनी पितृभूमि और सेना के लिए महिलाओं को अपने प्रयत्नों को दुगुना-तिगुना बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। लेकिन आखिर थी तो वह भी किसी की माता ! माता का हृदय रखती थी वह, और उसके ज्येष्ठ पुत्र शूरा ने अभी-अभी सोलहवें बसन्त में ही प्रवेश किया था—होनहार बालक था वह ! उस बालक ने युद्ध-क्षेत्र में जाने की इच्छा प्रकट की—अपनी स्नेहमयी माता के सामने। एक ओर माता का स्नेहासक्त हृदय और दूसरी ओर पितृभूमि के प्रति कठोर कर्त्तव्य की पुकार। माता के हृदय में चोट लगी। उसने शूरा के मुख-मंडल को निहारा और अनुभव किया कि उस पर आत्म-विश्वास, शान्ति, गम्भीरता और दृढ़ निश्चय की भावना थिरक रही है। वस्तुत:

शूरा के लिए युद्ध में जाना उतनी ही सहज वात थी, जितनी जंगल में आखेट के लिए यात्रा करना—इससे अधिक नहीं। माता समझ गई और पुत्र को अपने इस नये पथ से विचलित करने का प्रयास उसने नहीं किया।

शूरा सेना में भरती नहीं हो सकता था—निरा बालक ही तो था! लेकिन कुछ ही दिनों के वाद जव जर्मन लोग पूर्वी प्रान्त में आगे बढ़ते गये, तव गाँव में स्वयंसेवक दल का संगठन हुआ और शूरा भी उसमें भरती हो गया। उसका साहस और सतर्कता, बन्दूक चलाने में उसकी दक्षता, घोड़े की सवारी में उसकी स्फूर्ति तथा उसकी देश-भक्ति एवं निर्भीकता पर मुग्ध होकर दल-नायक ने उसे स्थानीय टुकड़ी का सदस्य वना लिया।

शूरा के पिता भी उसी टुकड़ी के सदस्य थे। सघन वन को छेदकर भीतर घुस जाना तथा जर्मन पाराशूटियों, गुप्तचरों और विध्वंसकारियों का पता लगाकर उन्हें ठिकाने लगा देना—यही पिता-पुत्र का कर्त्तव्य था। माता और वित्या को घर में छोड़कर शूरा अपने पिता के साथ लगातार कई दिनों तक बाहर रहता था। माँ भी नहीं जानती थी कि कहाँ, किस दिशा में, कितनी दूर दोनों पिता-पुत्र गये हैं और कव तक लौटेंगे। उन दोनों ने भी कभी उससे नहीं कहा। दोनों अपनी गतिविधि को नितान्त गुप्त रखते थे। जव देश-भक्ति का गान गाते हुए वे गाँव लौटते थे, तभी शूरा की माँ समझती थी कि मेरे पति और पुत्र जीवित हैं, सकुशल हैं। क्षणिक विश्राम के वाद पिता-पुत्र पुनः कर्त्तव्य-पथ पर निकल पड़ते।

उधर जर्मन ऐसी तीव्र गति से आगे वढ़ने लगे कि जिसकी आशा नहीं थी। 'चेकालिन' परिवार के लोग, जिसका सदस्य शूरा था, अव 'लिख्विन' नामक स्थान में रहने लगे थे और जर्मन लोग वहुत निकट

पहुँच चुके थे। जनता की व्याकुलता बढ़ने लगी थी, मगर शूरा की दृढ़ता में अभिवृद्धि हो रही थी। वह यथार्थ युद्ध के लिए भी सर्वथा प्रस्तुत था—चाहे वह कितना भी भयानक और प्राणघातक क्यों न हो ! एक दिन उसने माँ से कहा—"अम्मा मेरे गरम कपड़ों को सँजोकर एक गठ्ठर मे बाँध दो तो ! बहुत सम्भव है कि मै जाड़ा भर बाहर ही रहूँ।"

माँ का दिल बैठ गया। शूरा के कथन का तात्पर्य समझने में उसे देर नहीं लगी। वह गोरिल्ला जत्थे मे सम्मिलित होने जा रहा था। माता देर तक पुत्र का मुँह निहारती रही, कुछ नही पूछा, एक शब्द भी नही बोली। वह भी तो गाँव की मेयर थी ! प्रत्येक व्यक्ति के—अपने बच्चे तक के भी—हृदय मे युद्ध-भावना को उभाड़ना उसका कर्त्तव्य था। उसने अनुभव किया, अब वह रो देगी; लेकिन बड़ी कठिनाई से अपने आँसुओं को पी गयी।

चुपचाप उसने शूरा के जाड़े के कपड़ों को इकट्ठा किया, उनकी गठरी बाँधी, जिसमें तीन बड़ी-बड़ी पावरोटियाँ रख दीं और कुछ भुने हुए मांस को भी रखना चाहा…मगर शूरा ने कहा, "पिताजी गोश्त के लिए एक सूअर का छौना मार चुके है। हम लोग खाने-पीने का पूरा सामान लिये जा रहे हैं ! —गोश्त, रोटी, मधु !"

अब माता समझ गई कि उसका सिर्फ पुत्र ही नहीं, पति भी उसी पथ के पथिक है। वह चुप थी—शान्त ! शूरा ने आह्लादपूर्वक माता से विदाई ली और पिता के साथ चल दिया।

पाँच दिन बीते। प्रत्येक व्यक्ति को गाँव खाली कर पीछे हट जाने का आदेश मिला, लेकिन नादझदा चेकालिन—शूरा की माता ने तब तक गाँव छोड़ने से इन्कार कर दिया, जब तक वह अपने प्यारे पुत्र को नजर भर देख न ले। उसने हठ ठान लिया शूरा को देखने के

लिए—कम-से-कम एक घण्टे के लिए भी ! भावी भय की आशंका से उसका दिल व्याकुल हो उठा था, और इसलिए गाँव छोड़ने के पहले वह एक बार अपने पुत्र का मुँह देखने के लिए व्यग्र हो उठी।

रेडियो द्वारा उसका सम्वाद शूरा को भेज दिया गया। सम्वाद सुनते ही वह जंगल से दौड़ा आया, लेकिन वह असंतुष्ट था, मुँह फुलाए हुए था, चूँकि एक मिनट के लिए भी अपने कर्त्तव्य-पद से हटने को सहमत नहीं था। घर आते ही उसने माता से पूछा—"क्यों तुमने मुझे वुला भेजा है, अम्मा ?"

माता वोली, "मेरे प्यारे वच्चे, क्या तुम मुझे विदा करना नहीं चाहते ? मैं गाँव छोड़ने जा रही हूँ, क्योंकि जर्मन इस गाँव पर कब्जा करने की धमकी दे रहे हैं !"

पुत्र ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"माँ, क्यों नहीं ? मैं अवश्य तुम्हें विदा करूँगा, लेकिन मैं तुम्हारी आँखों को आँसुओं से तर नहीं देखना चाहता। तुम वीर-जननी हो, तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिए—दृढ़ और धैर्यवती !"

इस वार माता का हृदय टूट गया। आँसुओं के प्रवाह को वह रोक नहीं सकी, यद्यपि वह देश-भक्त और दृढ़ महिला थी, क्योंकि वह भली भाँति समझती थी कि ऐसे भू-भाग में, जो शीघ्र ही जर्मनों के हाथ में आ सकता है, गोरिल्ला सैनिक वनना खतरे से खाली नहीं है। तथापि शूरा के सामने उसने अपने हृदय की आशंका को एक शब्द में भी प्रकट नहीं किया। माता की दृढ़ता देखकर शूरा जंगल के अपने कुछ उत्तेजक और सनसनीपूर्ण अनुभवों को चाव के साथ गिनाने लगा। अपने चमत्कृत वार्त्तालाप और हृदयस्पर्शी ढंग से उसने माता को खुश कर दिया। माता ने भी इतना अधिक प्यार अपने पुत्र के प्रति पहले कभी प्रदर्शित नही किया था। शूरा भी इसके पहले इतना अधिक जोशीला, आत्म-विश्वासी और साहसी नहीं दिखलाई पड़ा था।

३

अब शूरा के जीवन का सबसे अधिक भयंकर और सबसे अधिक कठोर युग प्रारम्भ होता है। वह किसी भी कार्य के लिए, सभी तरह की आफतों का सामना करने के लिए सदैव प्रस्तुत था। अपनी गोरिल्ला टुकड़ी (गुप-चुप छापामार दल) का वह सबसे छोटा सदस्य था,—लेकिन गोरिल्ला के लिए जितना वह उपयुक्त, दक्ष और बहादुर निकला उतना दूसरा नहीं, उसके पिता तक भी नही। कहीं भी पैदल या घोड़े पर जा सकता था। किसी भी दलदली भाग मे, जंगल के किसी भी हिस्से मे प्रवेश करने में कभी हिचक नहीं दिखलाता था। वह बार-बार अकेला जर्मन-अधिकृत भूभाग की ओर निकल पड़ता था और शत्रु-सेनाओं, उनके भौगोलिक विभाजन, उनकी साज-सामग्री और रूसी जनता के प्रति उनके व्यवहारों के विषय में अनमोल सूचनाओं के साथ लौट आता था।

अपने दल में अकेला शूरा भी शिल्पी या टेकनिशियन था। जगल या गोरिल्ला-निवास में जितनी सामग्री उसे मिल सकी, उसने उससे रेडियो से समाचार प्राप्त करने का एक सेट बना लिया। अब गोरिल्ला सैनिक मास्को के रूसी मोर्चों से किये गये ब्रॉडकास्ट को सुन सकते थे। इस प्रकार जर्मनों द्वारा फैलायी गयी अफवाहों का, विशेषकर उनके अभिमानपूर्वक जोर-जोर से कहे जाने वाले इस दावे का कि 'मास्को का अन्त हो गया' शान के साथ वे खंडन कर सकते थे।

शूरा ऐसा साहसी और निपुण निकला कि गोरिल्ला-जत्थे की ओर से उसे सर्वदा ऐसे विकट कार्यो पर नियत किया जाने लगा, जहाँ पूरी दक्षता की जरूरत पड़ती थी। वह अनेक प्रकार के वेश बदल सकता था। जब कभी उसे शत्रु के अधीनस्थ भूभाग में दूर तक घुसने की जरूरत पड़ती थी, तब वह अक्सर जर्मन सैनिक का वेश धारण कर

लेता था। जंगल के बाहर चारों ओर जर्मन भर गये थे, इसलिए शूरा-जैसे निशानेबाज के लिए किसी जर्मन सैनिक को गोली का निशाना बना देना, उसकी पोशाक या वर्दी तथा शस्त्रास्त्र को प्राप्त कर लेना और जर्मन सैनिक के छद्म-वेश में जर्मनों के साथ गाँव में घुस जाने का मार्ग बना लेना बाँयें हाथ का खेल था। वह षोडश-वर्षीय बालक इस कला में सिद्धहस्त हो गया था। जर्मन लोग रूसी गाँवों में गोरिल्लों से जितनी घृणा करते और भय खाते थे, उतनी और किसी से नहीं। यही कारण था कि वे लोग उन जंगली भागों या सड़कों से दूर ही रहते, जहाँ गोरिल्लों का आवागमन रहता था। लेकिन शूरा यह नहीं जानता था कि भय किस चिड़िया का नाम है। वह किसी शत्रु-अधिकृत गाँव में छिपकर रहने में कभी असुविधा का अनुभव नहीं करता था। जो वह चाहता था, उसे देख-सुन लेता और पुनः जंगल का रास्ता नाप लेता था। इस प्रकार कार्य करते हुए जब कभी उसके सामने इक्का-दुक्का जर्मन सैनिक या गश्ती दल का सदस्य पड़ जाता, तो वह उसका सामना करने में हमेशा तत्पर रहता था और मौका मिलते ही उसे गोली का निशाना बनाकर अपना मार्ग प्रशस्त करने में कभी नहीं चूकता था। अगर कभी संयोगवश उसकी रायफल असफल रह जाती तो 'हैंडग्रिनेड' (हाथ से फेंकने वाला बम) उसकी रक्षा करता। जिस प्रकार वह रायफल चलाने में सिद्धहस्त था, उसी प्रकार 'हैंडग्रिनेड' फेकने में भी उसने दक्षता प्राप्त कर ली थी।

शूरा कई बार जर्मनों के चंगुल में फँसते-फँसते आश्चर्यजनक ढंग से बच निकला। एक बार वह निरीक्षक-दल के साथ जंगल से बाहर निकला। दैवयोग से उसके सभी साथी दूर निकल गए, वह अकेला घिर गया। जर्मनों ने उसे करीब-करीब घेर ही लिया था। जीवन और मृत्यु तुला पर लटक रहे थे। जरा चूक हुई कि उसका

अन्त ! तनिक भी असावधानी हुई कि जान की खैर नहीं। रायफल व्यर्थ जा रही थी, सिर्फ 'हैंडग्रिनेड' ही उसकी रक्षा कर सकता था। जर्मनों ने उसे पकड़ लेने का निश्चय कर लिया। एक जीवित गोरिल्ला उनके कब्जे में आ रहा था, जिससे जंगल में रहने वाले उसके साथियों के सम्बन्ध में उन लोगों को सूचना प्राप्त होने की आशा थी।

लेकिन प्रमादवश एक-दो अनमोल और निर्णयात्मक क्षण उन लोगों ने सोचने में लगाये और शूरा ने उतने ही क्षणों का कीमती उपयोग कर लिया—झट एक 'हैंडग्रिनेड' फेंका, दूसरा फेंका और जान पर खेलकर भागा, ऐसा भागा कि जर्मन जब तक सावधान हुए तब तक वह कहीं-का-कहीं जा पहुँचा और साथियों से जा मिला।

जर्मनों के साथ शूरा की एक दूसरी भिड़न्त इससे भी अधिक भयंकर थी। एक बार वह जर्मन सैनिकों के छद्म-वेश में अपने कुछ गोरिल्ला साथियों के साथ एक गाँव में उतरा, जहाँ उसके रिश्तेदार रहते थे। वह गाँव जर्मनों के कब्जे में आ चुका था। शूरा अपने रिश्तेदार के घर गया। वे लोग किसान थे, जर्मनों से घृणा करते थे। गोरिल्लों ने उसी गाँव में रात बिताने का निश्चय किया और शूरा के रिश्तेदारों ने उन लोगों को प्रसन्नतापूर्वक छिपाकर रखा।

रात के अन्तिम भाग में अचानक कुछ जर्मन सैनिक आ धमके। उन लोगों ने सारे घर की तलाशी ली और कुछ लोगों को सहन तथा ईंटों की भट्ठी पर सोया पाया। बूढ़े किसान से उन लोगों ने कड़ककर पूछा, "कौन सो रहे हैं ?" उत्तर मिला, "आपके ही आदमी।"

शूरा और उसके साथियों ने जर्मनों की कड़क सुन तो ली, मगर जरा भी हिले-डुले नहीं, आँखें भी नहीं खोलीं और गम्भीर निद्रा में सोये व्यक्ति-जैसे पड़े रहे—टस-से-मस नहीं हुए। जर्मनों ने उन गोरिल्लों पर टार्च-लाइट का प्रकाश फेंका और उनकी जर्मन-वर्दियों

को देखकर समझ बैठे कि सभी जर्मन ही हैं। फिर क्या था, सहन पर जो खाली जगह थी, उस पर सभी लेट गये और शीघ्र ही निद्रा की गोद में खर्राटे लेने लगे। शूरा और उसके साथी बाल-बाल बच निकले।

इसी प्रकार शूरा साहसी और कर्मठ गोरिल्ला-जीवन व्यतीत कर रहा था। न तो वह विश्राम करना जानता था, न चैन लेना। हमेशा खुली हवा, सरदी और दलदल में निवास करने तथा निरंतर कार्यरत रहने के कारण वह बहुत निर्बल होकर अन्त में ज्वराक्रान्त भी हो गया। वह खाई में लकड़ी के तने पर पड़ा रहा, इस आशा से कि उसकी बीमारी और पीड़ा शीघ्र दूर हो जायगी। जंगल में न तो डाक्टर था, न दवाखाना। शूरा की हालत दिन-ब-दिन खराब होने लगी। उसके ज्वर का वेग बढ़ता ही गया। पीड़ा की भी वृद्धि होती गई।

लेकिन वह जाता कहाँ ? चारों ओर प्रत्येक गाँव में, प्रत्येक शहर में, प्रत्येक सड़क पर जर्मन भरे पड़े थे। रूसी युद्ध-पंक्ति कुछ दूर पड़ती थी। वहाँ तक पहुँचने में समय चाहिये और सबसे बढ़कर चाहिए रास्ते मे मिलने वाले जर्मनों की आँखों में धूल झोंककर आगे निकल जाने की स्फूर्ति; लेकिन अपनी इस दुर्बलावस्था में शूरा रूसी पंक्ति से संबन्ध जोड़ने में सर्वथा असमर्थ था। समय कीमती था। प्रत्येक घड़ी की देरी और असावधानी उसकी हालत और भी बदतर कर रही थी। अन्त में गोरिल्लों ने उसे उसके अपने गाँव में भेज देने का ही निश्चय कर लिया। वह गाँव निकट था और यद्यपि वह भी जर्मनों के अधिकार में आ गया था, फिर भी, वहाँ शूरा के रिश्तेदार थे, जो उसे छिपाकर रख सकते थे और गुप्त रूप से उसकी देखभाल भी कर सकते थे।

छद्म-वेश मे शूरा अपने पुराने घर पर पहुँचा। गाँव बिलकुल बदल चुका था। हर कहीं जर्मन-ही-जर्मन दीख पड़ते थे—विद्यालय भवन में, टाउन हाल में, घरों में, गलियों में। चुपके से शूरा अपने एक रिश्तेदार

के घर जा छिपा। रिश्तेदार लोग उसे देखते ही डर से हाँफने लगे, क्योंकि वे लोग जानते थे कि जब जर्मनों को गाँव में शूरा की उपस्थिति की जानकारी होगी, तब उनका क्या परिणाम होगा। किन्तु वह भी अपने देश के वीर सैनिकों से प्यार करते थे। उन लोगों ने शूरा को घर के सबसे अधिक गरम स्थान में छिपा रखा,—ईंट की भट्ठी के ऊपर के हिस्से पर। उन लोगों ने उसे चाव से खिलाया-पिलाया, आराम दिया और विश्वास दिलाया कि वह सर्वथा सुरक्षित है, गाँव में किसी से भय खाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु गोरिल्ला सर्वदा आकस्मिक भय और सम्भव आक्रमण से शंकित रहने का अभ्यस्त होता है, इसलिए उसने सोते समय भी अपने 'हैंडग्रिनेड' को अपने बगल में दबा रखा था।

कठोर-से-कठोर प्रयत्न करने पर भी शूरा के रिश्तेदार उसे अधिक दिन छिपा नहीं सके। जर्मन जासूसों ने पता लगा ही लिया कि वह इसी गाँव में है। उन लोगों को यह पता लग गया कि वह किस घर में छिपा हुआ है। एक सुदक्ष और सुदृढ़ गोरिल्ले के रूप में उसकी ख्याति फैल चुकी थी। रात के पिछले पहर में एक दर्जन शस्त्र-सज्जित जर्मनों ने निधड़क उसी घर में प्रवेश किया, जहाँ शूरा छिपा था। वह जाग गया। उसका दिमाग साफ था। उसने अपने को फंदे में फँसा हुआ पाया। इसके पहले भी कई बार जंगल में, खुली सड़क पर, गाँव की गलियों में जर्मनों के फंदे में पड़ चुका था, लेकिन हर बार वह लड़ाई ठानकर या चालाकी से निकल भागा था। इस बार भी वह प्रयत्न करता, 'हैंडग्रिनेड' उसके बगल में था ही। अगर वह मरता तो भी 'हैंडग्रिनेड' फेंककर कितनों का काम तमाम करके ही मर सकता था? सम्भव था, वह भाग निकलता, लेकिन अपने ऐसे रिश्तेदारों की, जिन्होंने उसे आड़े समय में छिपाकर रखने का साहस दिखलाया,

जान जोखिम में डालना वह नहीं चाहता था। वह लाचार था—विलकुल विवश ! ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा, 'हैंडग्रिनेड' से विस्फोट नहीं हुआ। जर्मन उसे गिरफ्तार करके ले चले।

जर्मनों ने देखा, शूरा निरा वालक है और बीमार भी, इसलिए उन लोगों ने समझ लिया कि वह उन बातों को बता देगा, जिनके लिए वे सभी लालायित थे—कहाँ उसके गोरिल्ला जत्थे का अड्डा है, जत्थे में कितने सदस्य हैं, वे सदस्य कौन-कौन हैं, इत्यादि। यद्यपि शूरा का शरीर ज्वराक्रान्त था, तथापि उसका दिमाग साफ, स्वस्थ और सतर्क था। उसने किसी भी ऊटपटाँग प्रश्न का उत्तर देना अस्वीकार कर दिया। जो जर्मन अफसर उसकी जाँच कर रहा था, वह क्रोध से उतावला होकर उसे, उसके जैसे सभी रूसी लड़कों को और सभी गोरिल्लों को गालियाँ देने लगा। आत्माभिमानी शूरा भी उनकी गालियाँ सहन नहीं कर सका। क्रोधावेश में सामने की मेज पर रखी हुई दवात को उठाकर अफसर के मुँह पर दे मारा। स्याही अफसर के मुँह पर लुढ़क गई।

अफसर ने शूरा को पीटने का हुक्म दिया। उसे वेरहमी से पीटा गया, जिसका वर्णन एक प्रत्यक्षदर्शी रूसी ने उस समय किया जवकि जर्मन लोग उस गाँव से खदेड़ दिये गये। जर्मन सैनिकों ने संगीनों से उसके वाँयें पैर के वूट को वेध दिया और उसके दोनों पैरों की पिंडलियों को उधेड़ दिया। उसके वूट खून से लथपथ हो गये। उसे असह्य पीड़ा का अनुभव होने लगा, लेकिन इतने पर भी वह ज्वराक्रान्त वालक दृढ़ वना रहा—एक भी वात मुँह से नहीं निकाली, 'ऊँह' तक नहीं की, रूसी गोरिल्लों के नियम या कोड तथा शपथ के प्रति सच्चा वना रहा। न तो उसने दुश्मनों के प्रश्नों का उत्तर दिया और न उसे क्षमा प्रदान कर देने या अपने साथ उदारता दिखलाने

वाली जर्मनों की प्रतिज्ञाओं के भुलावे में फँसकर उत्तर देने का लोभ ही हुआ। भुलावे या प्रलोभनों के जाल में फँसाकर या बल-प्रयोग द्वारा उससे किसी भी तरह का भेद लेने मे जब जर्मनों को सफलता नहीं मिली, तब उन लोगों ने उसे प्राणदण्ड की आज्ञा सुना दी।

शूरा ने प्राणदण्ड के कठोर आदेश को सुना, किन्तु तनिक भी विचलित तथा भयभीत नहीं हुआ। उस तिमिराच्छन्न घड़ी में उसके अन्तर्प्रदेश में चाहे जैसी भी व्यथा उठी हो, जो भी विचार उत्थित हुआ हो, अपने माता-पिता तथा अपने छोटे भाई के लिए, जिसे वह जान से भी बढ़कर प्यार करता था, जो भी वेदना हुई हो, बाहर से वह लोहे से भी अधिक कठोर बना रहा। अपनी व्यथाओं और अन्तर्वेदनाओं को लेशमात्र भी बाहर प्रकट नहीं होने दिया—न रोया, न प्राण की भिक्षा माँगी और न एक शब्द ही बोला।

शूरा के गाँव मे एक सार्वजनिक मैदान था। वही प्रायः वह खेलता-कूदता था। दूसरे बालको के साथ प्रतियोगिता की दौड़ दौड़ता और वही वह अपने जीवन का अन्तिम अभिनय करने के लिए लाया गया। गाँव के किसानों को जिन्हे शूरा पहचानता था, और जो शूरा को भी बचपन से ही जानते थे, फाँसी का दृश्य देखने के लिए मैदान में एकत्र होने का निर्मम आदेश मिला। उन लोगों ने शूरा को मैदान तक जाते हुए देखा—उसके पैर रक्त-रंजित थे, उसे मार्मिक पीड़ा हो रही थी, फिर भी वह सीधा चल रहा था, सिर को ऊपर उठाकर एक जर्मन ने उसे एक छोटी-सी पतली तख्ती दी और हुक्म दिया कि तख्ती पर लिखो, "यही दुर्दशा प्रत्येक गोरिल्ले की होती है।" घृणा का भाव प्रदर्शित करते हुए शूरा ने इस आदेश की अवहेलना कर दी। जर्मनों की ओर मुड़कर वह तिरस्कार-भरे शब्दों में चिल्ला उठा, "तुम हम सभी लोगों को फाँसी पर लटका नहीं सकते, हम एक नहीं, अनगिनत हैं।"

शूरा का अंत निकट था, फिर भी अपने जीवन की अंतिम घड़ी तक उसने अपने को नहीं खोया, जरा भी विचलित नहीं हुआ। वह रूसी राष्ट्रीय गान गुनगुनाता रहा—उसके शब्द और स्वर उसके अधरों पर अंतिम नृत्य कर मृत्यु की गोद में खो गये। जर्मनों ने उसके वक्षस्थल पर एक पतली तख्ती बाँध दी, जिस पर रूसी भाषा में बड़े-बड़े अक्षरों में, अंकित था, 'एक गोरिल्ले का अन्त।'

गाँव वाले चाहते थे कि उसकी लाश किसी अच्छी जगह ले जाकर दफना दी जाय लेकिन जर्मनों ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया। जर्मन लोग उन लोगों के विरुद्ध, जो उनके आक्रमण में बाधा डालते थे, अपनी क्रूरता का प्रदर्शन करने की गरज से उस लाश को मैदान में एक वृक्ष के ऊपर लटका देना चाहते थे और उन लोगों ने ऐसा ही किया भी। लेकिन कुछ ही घण्टों के बाद बर्फ का ऐसा प्रचण्ड तूफान आया कि लाश वृक्ष से नीचे गिरकर बर्फ में पड़ गई और जब तक जर्मन उस गाँव से खदेड़ नहीं दिये गये, तब तक हिम-चट्टानों के गर्भ में ही छिपी रही।

जर्मनों को भगा देने के बाद बर्फ खोदकर उस लाश को पुनः निकाला गया। शूरा की माता ने कलेजे पर पत्थर रखकर अपने हाथों से अपने प्यारे वीर-पुत्र की लाश को परिष्कृत किया। उसे उसकी ही रविवार की पोशाक से सुसज्जित किया और सार्वजनिक अन्त्येष्टि के साथ उसे उसी स्थान पर दफनाया, जहाँ वह फाँसी पर लटकाया गया था।

आज वह स्थान, जहाँ शूरा दफनाया गया है, 'अलेक्जेण्डर चेकालिन स्क्वायर' कहलाता है और गाँव का भी नाम पड़ा है—'शूरा चेकालिन।' सोवियत सरकार ने शूरा को 'सोवियत यूनियन का नायक' की उपाधि से विभूषित किया है और रूसी पोस्टेज के नवीन संस्करण में उस वीर का चित्र सुशोभित रहने लगा।

भू-मार्ग द्वारा पैरिस से न्यूयार्क—२

याकुत्स्क से रवाना होने के नौ दिन बाद वह वेरकोयिंस्ऑंस्क पहुँचे। वेरकोयिंऑस्क एक छोटा-सा ग्राम था। वहाँ मिट्टी की झोंपड़ियाँ थी और लगभग ५०० की जनसंख्या थी, जिसमें याकूती, रूसी और राजनीतिक निर्वासित थे। याकुत्स्क के पुलिस अधिकारी की भाँति ही यहाँ का अधिकारी भी कैदियों के साथ मित्र-भाव के साथ रहता था। द विद के सम्मान में दिये भोजन के अवसर पर उनमें से कई वहाँ उपस्थित थे। भोजन बहुत ही स्वादिष्ट था। खाने में मछली थी, हिरण का भुना मांस था और शराब थी।

वेरकोयिंऑस्क में इन निर्वासितों के लिए यह एकाकी जीवन कितना भयंकर था। वह संसार से एकदम अलग थे, मानो एक बहुत बड़े जेल की चार-दीवारी में बन्द हों। वहाँ से निकल भागना असम्भव था। शायद, कभी भूले-भटके उनके परिचितों, मित्रों का कोई सुसंवाद पहुँच जाता। किन्तु वहाँ के एकाकी जीवन ने कइयों को वस्तुतः पागल कर दिया था। उनमें वह कैदी भाग्यवान होता था, जो अपनी इस एकाकी परिस्थिति में किसी काम में मन लगाए रहता था। किताबें, अखबारें वा पत्रिकाएँ तो यहाँ के लिए अत्यधिक मूल्यवान वस्तुएँ हैं, क्योंकि कभी-कभी ही वह देखी जा सकती हैं। द विद ने एक निर्वासित को एक किताब भेंट की। उस निर्वासित को अभी बारह वर्ष यहीं और रहना था। उसके लिए तो यह भेंट मानो स्वर्ग की देन थी। "मैं इसके अक्षर-अक्षर और शब्द-शब्द को पढ़ जाऊँगा, मि० द विद," उसने जाते हुए कहा था।

यहाँ के पुलिस अधिकारी ने भी द विंद को बहुत समझाया, किन्तु द विंद पर कोई प्रभाव न हुआ और वह वेरकोयिआँस्क से स्रेडनी कोलीम्स्क के लिए २ मार्च को रवाना हुआ। यह स्थान उत्तर-पूर्व में एक हजार मील के अन्तर पर है। इस मार्ग पर के पड़ाव तो बेहद गंदे थे। ये पड़ाव दो-दो सौ मील के अन्तर पर थे, किन्तु प्रत्येक ८० मील के बाद छोटी-मोटी झोंपड़ियाँ थीं। यह झोंपड़ियाँ लकड़ी के खम्भों से बनी होतीं, जिनकी छत बहुधा टूटी होती, और प्रायः आधी झोंपड़ी बरफ में दबी होती।

वेरकोयिआँस्क से उत्तर-पूर्व की ओर कुछ मील जाकर भीषणतम शीत का सामना करना पड़ा। यहाँ भी तापमान शून्य से ७८° नीचे था। साँस की वाष्प बाहर निकलते ही जम जाती थी और बरफ का टुकड़ा बनकर नीचे गिर पड़ती। भाग्य से वायु शान्त थी। यदि कहीं वायु का वेग होता तो प्रत्येक आदमी और पशु मृत्यु के मुँह में चला जाता।

यात्रा का यह भाग सबसे अधिक भयानक था। एक बार तो, वायु और बरफ के साथ निरन्तर बारह घंटे युद्ध करना पड़ा, और तब कहीं एक झोंपड़ी के दर्शन हुए। सोलह घंटों से उन्होंने कुछ भी नहीं खाया था, और उस दुर्लभ झोंपड़ी में उन्हें आठ घंटे और प्रतीक्षा करनी पड़ी। क्योंकि खाद्य-सामग्री की गाड़ी पीछे रह गई थी, और उसे पहुँचने में इतना समय लगा। इस प्रकार, २४ घंटे तक वह आर्क्टिक क्षेत्र के घोर शीत में भूखों पड़े रहे, जिनमें से १२ घंटे तो उन्हें कठोरतम परिश्रम भी करना पड़ा था। एक स्थान पर तो इतना अधिक जाड़ा था कि यात्री-दल का एक भी सदस्य निरन्तर ३६ घंटे तक सो भी नहीं सका था। गिरते-पड़ते द विंद का यात्री-दल इंडीगिरका नदी को पार करके एक झोंपड़ी के आश्रय-स्थल पर पहुँचा, जिसे "शत-द्वारी"

कहा जाता था। इसके इस नाम का कारण यह है कि इसमें चारों दिशाओं से छेदने वाली हवाओं का प्रवेश होता है। और यहाँ एक विचित्र घटना घटी। यात्री सो रहे थे और एकाएक बम फटने जैसा धमाका हुआ। यात्रियों की एक चटनी की बोतल थी, जो जमकर फैलने से एकाएक फट गई थी। उसके फटने का बड़ा भारी धमाका हुआ था।

जितना-जितना स्त्रेडनी कोलीम्स्क निकट आता जाता, उतना ही उस प्रदेश का सूनापन बढ़ता जाता। कही भी कोई पौधा नजर नहीं आता था। बेचारे बारहसिंघों के खाने तक को कुछ नही मिलता था। फलतः उन्हें याकूती घोड़ों से बदल लिया गया। इन छोटे-छोटे जानवरों के बदन कितने गठे हुए थे, और कितने भयंकर वह जान पड़ते थे। जो भी हो, बिना किसी बाधा के शेष यात्रा पूर्ण करके कोलीमा नदी की चौकी आ पहुँची। और वेरकोयिआँस्क से चलकर अठारह दिन बाद उन्होंने स्त्रेडनी कोलीम्स्क में प्रवेश किया।

स्त्रेडनी कोलीम्स्क में ४० या ५० मिट्टी की झोंपड़ियाँ थीं। एक टूटा-फूटा काठ का गिर्जाघर था। सारा गाँव ऐसा लगता था जैसे श्मशान हो। इस प्रकार के स्त्रेडनी कोलीम्स्क में द विद ने अपने जीवन के सर्वाधिक निराशा एवं चितापूर्ण तीन दिन बिताए। यहाँ का अधिकारी यात्री-दल की सुनता ही नहीं था। बहुतेरा कहने पर भी अन्वेषकों की न सुनी गई। उसका कहना था कि न तो उसके पास बेचने के लिए कुत्ते हैं, न ही खानपान का सामान है। और कुत्तों के बिना आगे बढ़ना नितान्त असम्भव था। बेचारा द विंद बहुत निराश हुआ। किन्तु अकस्मात ही सहायता मिल गई। द विंद का पथ-दर्शक तीन दिन हुए लापता हो गया था। तीन दिन बाद लौटा तो उसके साथ ६४ कुत्ते थे। वह ३० मील के अन्तर पर अपने एक मित्र से

इन कुत्तों को लाया था। इस प्रकार, परमात्मा ने वड़ी भारी वाधा को सहज ही दूर कर दिया। थोड़ा खाने का सामान महँगे दामों पर खरीदा गया और २२ मार्च को आर्क्टिक तट के लिए ५ कुत्ता-गाड़ियाँ रवाना हुईं।

तीन सौ मील की यात्रा करने के वाद—६ दिन में दल निजी-कोलीम्स्क पहुँच गया। इस गाँव में २५ या ३० झोंपड़ियाँ थीं। इनमें याकूती और तुंगुसी रहते थे। वहीं एक रूसी निर्वासित भी था, जो स्वयं ही उसका अधिकारी बन गया था। यहाँ १५ दिन बेकार रुकना पड़ा क्योंकि गाड़ी हाँकने वाले में से एक ने और आगे जाने से इंकार कर दिया था। प्रत्येक क्षण वहुमूल्य था। अप्रैल आने को था और बरफ घुलने से पूर्व उन्हें वेरिंग अन्तरीप हर हालत में पहुँच जाना था। किन्तु अंततः वह मान गया। और अप्रैल के प्रथम सप्ताह की समाप्ति से पूर्व वह भयानक आर्क्टिक समुद्र-तट पर बढ़े जा रहे थे।

विशाल सभ्य संसार को वह छोड़ चुके थे। न कोई पड़ाव, न झोंपड़ी, न पेड़, न पौधा—कोई भी चिह्न ऐसा नहीं था, जो उनके मार्ग की दिशा को वतलाने वाला होता। वह एकाकी विशाल समुद्र-तट पर वढ़े जा रहे थे। इन उत्तरी क्षेत्रों की निर्दय वर्फीली हवाओं की दया पर ही उनका जीवन निर्भर था। ईंधन के लिए वह पानी में वहकर आई लकड़ी पर आश्रित थे और निर्दय आर्क्टिक के तूफान से रक्षा करने वाले उनके तम्बू थे।

अभी वह वहुत दूर नही जा पाये थे कि भीषण तूफान उठ खड़ा हुआ। वहीं एक चट्टान लटक रही थी। जैसे-तैसे उन्होंने उसकी आड़ में आश्रय लिया। उनकी अँगुलियों का रक्त जम-सा गया था, किन्तु भारी कठिनाई के साथ उन्होंने तम्बू लगाया। किन्तु वर्फीला तूफान हर वस्तु को छेदे डाल रहा था। उनकी हर पोशाकों पर वरफ

की तहें जम गई थीं, और तीन सप्ताह तक उनकी यही दशा रही। रात में दो बार उनका तम्बू उखड़-उखड़ गया। उनके पास आग नहीं थी, किन्तु एक-दूसरे को गरमी पहुँचाने की गरज से वह एक दूसरे के साथ सटे-सटे रहते।

बेरिंग अंतरीप पहुँचने से पूर्व वह उस रात के भीषण दृश्य को कभी नहीं भूल सके। उनके और उत्तर-पूर्वी खाड़ी के बीच का १,५०० मील का विस्तृत क्षेत्र उनके सामने था, जिसे वह धीरे-धीरे पार कर रहे थे। ६ बजे प्रातः वह चलते थे और कठोर श्रम के साथ बढ़ते जाते थे। शेलोनस्कोई खाड़ी में पहुँचकर उन्हें एक छोटी-सी आबादी मिली। इस आबादी की झोंपड़ियों की छतों पर चमड़ा मढ़ा हुआ था। द बिद ने वोडका के बदले मांस लिया, और इस खाद्य को लेकर वह पूर्व दिशा की ओर बढ़ा। एक सप्ताह के बाद वह एक अन्य आबादी में पहुँचे। यहाँ पर ६ कुत्तों के बदले और खाद्य प्राप्त किया गया। अब थोड़ी-थोड़ी दूरी पर छोटी-छोटी आबादियाँ नजर आ जातीं। कुछ-न-कुछ खाने को मिल जाता। अब भूखों मरने का डर नहीं रह गया था। पूर्व खाड़ी की ओर बढ़ते हुए मौसम भी कई-कई तरह का होता जा रहा था। एक आबादी में उन्हें एक अखबार भी देखने को मिला। यह अखबार दो साल पुराना था और सान-फ्रांसिस्को का छपा हुआ था। जान पड़ता था कि ह्वेल मछली का शिकार करने वाले उसे छोड़ गये होंगे। इसे देखकर उनकी जान-में-जान आयी, क्योंकि उन्हें भान हुआ कि अब वह पुनः सभ्यता के निकट पहुँचने जा रहे है।

उत्तरी खाड़ी में पहुँच अत्यधिक कष्टकर थी। कई स्थानों पर बरफ के टीले बन गये थे, जो ६० या ७० फुट तक ऊँचे थे और इन पर से गाड़ियों को चढ़ाना तथा उतारना होता था, जो श्रमशील होने के साथ ही भयंकर भी था। इस खाड़ी के पार १० मई को वे कोल्यूचिन

द्वीप में पहुँच गए। दस दिन बाद वह वेरिंग स्ट्रीट के अधिवासियों में शामिल हो गए थे। वह पूर्वी खाड़ी में पहुँच गए थे और उन्होंने अपनी यात्रा का कठिनतम मार्ग पूर्ण कर लिया था।

पाँच सप्ताह तक वह साइवेरिया के इस दूरस्थ कोने के मूल-वासियों—टच्कूटियों के वीच रहे। वह अमरीकी पोत की प्रतीक्षा में यहाँ बैठे थे कि जो बरफ पिघलने पर पूर्वी खाड़ी से उन्हें अमरीकी मुख्य प्रदेश में ले जाय। प्रतीक्षा का समय बहुत ही धीमी गति से बीत रहा था। वह बेकार वहाँ बैठे थे, किन्तु लाचार थे। वरफ पिघलनी शुरू हुई और द विंद और उसके साथी अमरीकी पोत की तलाश में रहने लगे। उनकी चिंता का एक और भी कारण था। टच्कूटियों की दया का उन्हें भरोसा नहीं था। ये लोग एक या दो त्यौहारों के अवसर पर मद्यपान करते हैं और मद्य के नशे में यात्रियों को मार डालते हैं।

अन्ततः, १८ जून को अमरीकी पोत दृष्टिगोचर हुआ। द विंद ने कप्तान के साथ प्रिंस आफ वेल्स खाड़ी में उतरने का प्रवन्ध कर लिया। वह पोत समुद्र-तट से ६ मील के अन्तर पर पहुँच सका था, इसलिए उन्हें एस्किमो नाव द्वारा पोत तक पहुँचना पड़ा। इस प्रकार, पैरिस से चले हुए ६ मास के अनन्तर उन्होंने १९ जून, १९०२ को अमरीकी भूमि पर पाँव रखा। उन्हें एक झोंपड़ी में आश्रय दिया गया। यह झोंपड़ी एक पादरी के आवास के निकट थी, जो उत्तर-पश्चिमी अलास्का के एस्किमो लोगों में कार्य कर रहा था। दस दिन यहाँ विताये गये और उपरान्त एक अमरीकी जहाज ने उन्हें रोम नगर में पहुँचा दिया। चार साल पहले जब द विंद इस नगर में आया था तो दो या तीन लकड़ी के झोंपड़े थे। किन्तु अब उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि अब वहाँ एक अच्छा-खासा नगर बस गया है। वहाँ होटल थे, गिर्जाघर,

थियेटर और सुन्दर-सुन्दर मकान थे। इसके बाद की उनकी यात्रा बहुत ही सुखपूर्ण थी। वह एक नदी-पोत द्वारा डासन नगर पहुँचे। १,६०० मील की इस यात्रा को उन्होंने १५ दिन में तय किया। अब उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं था। यात्रा कष्ट-रहित थी। हाँ, कभी-कभी मच्छरों का प्रकोप बढ़ जाता था।

डासन नगर में वह कई दिन रहा। इस नगर की जनसंख्या तीस हजार है। यहाँ के अधिवासी मालामाल होने में लगे हुए थे। इसके बाद जहाज द्वारा और उपरान्त रेल द्वारा यात्रा करते हुए वह सैगवे बंदर पहुँच गए। उसके बाद हम तटवर्त्ती जहाज द्वारा सीटल पहुँचे। यहाँ से द विद का पथ-दर्शक दल से जुदा हो गया और वह योकोहामा तथा व्लाडीवोस्टोक जाने वाले जहाज पर चढ़ गया। फ्रांसिस्को से पुनः रेल-यात्रा आरम्भ हुई और द विद साथियों सहित आठ मास बाद—२५ अगस्त १६०२ को पेरिस से न्यूयार्क पहुँच गया।

एवरेस्ट-विजय

न जाने कब से, कितनी सदियों से, चोमोलुंगमा (माऊँट एवरेस्ट अर्थात् हिमालय का सर्वोच्च शिखर गौरीशंकर) अजेय रूप में गर्वोन्नित भाव से मानव की अनेक असफलताओं का परिहास कर रहा था। और जब, २९ मई १९५३ की एक शुभ-वेला में चोमोलुंगमा के गर्वोन्नित मस्तक पर अनन्त-अनन्त काल से जमे हिमकण मानव के चतुष्पादपों द्वारा विदीर्ण हुए, तो वह सम्पूर्ण हिम-प्रदेश मानव की अथक साधना की सफलता को देखकर मौन-भाव में मुखरित हो उठा। सभी दिशाओं में विस्तृत श्वेत-हिम-राशि ने मानव-चरण के तप्त-स्पर्श को पाकर अपूर्व स्वागत किया।

वह दिन, २९ मई १९५३, कितना महान्, विश्व भर में कितना अपूर्व था, जब दो महामानवों ने हिमालय के उच्चतम शिखर को अपने चरणों तले देखा, जब दो मानवों ने विश्व के उच्चतम शिखर से अपने नीचे के संसार पर चार आँखों से दृष्टि डाली थी। उस दिन चोमोलुंगमा को लगा होगा कि ये दो साधारण-से मानव एक-पर-एक पाँच हजार मनुष्यों के महाबलिष्ठ कन्धों पर खड़े होकर उसके गर्वोन्नित मस्तक पर अनायास उतर पड़े हैं। शायद उसे यह भी लगा हो कि मानव ने आकाश पर विजयी होकर आकाश-मार्ग से उस पर आक्रमण किया है, किन्तु चोमोलुंगमा को जो भ्रम हो सकता था, वह एकाएक, तत्काल दूर हो गया, जब उसने देखा कि वे साधारण-से मानव इंच-इंच, फुट-फुट, गज-गज के अन्तर पर अस्थिर सोपानों की रचना करते हुए, अपने प्राणों का, अपने सर्वस्व का बलिदान कर उसके अनन्त-काल से अविचल, स्थिर और अजेय गर्वोन्नित भाव को अपने चरणों से अपमानित नहीं, वरन् उसके द्वारा अपने जीवन

को अमर करने के लिए आये है, तो चोमोलुंगमा के कण-कण ने उन्हें आशीर्वाद दिया। वे अमरत्व पा गए, संसार भर में उनके महान् साहस का समाचार बिजली से भी सहस्र गुना अधिक वेग से फैल गया। विश्व भर के मानवों ने नारा लगाया—

शेरपा तेनसिंह नोर्की जिंदाबाद !

एडमण्ड हिल्लेरी जिंदाबाद !!

आज माऊंट एवरेस्ट (गौरीशंकर) हिमालय पर्वत का विश्वभर मे उच्चतम शिखर अजेय नहीं रह गया। शेरपा तेनसिह नोर्की और एडमण्ड हिल्लेरी उस पर सफल आरोहण कर विश्व-ख्यात हो गए हैं। संसार में जब तक सभ्यता और संस्कृति का लेशमात्र रहेगा, तेनसिह और हिल्लेरी के नाम उस समय तक जीवित रहेगे। प्रत्येक आने वाले युग के मानव इन महामानवों के अदम्य साहस एवं धैर्य के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते रहेंगे। किन्तु सोच तो देखिए इन साधारण मानवों की सफलता की पृष्ठभूमि में कौनसा रहस्य छिपा बैठा है। वह रहस्य ऐसा नही, जिसे हर कोई नहीं जान सकता, वह रहस्य ऐसा नहीं, जो हर किसी की पहुँच से बाहर हो, वह रहस्य ऐसा नहीं जो जनसाधारण के ज्ञान से परे का हो। सारांश यह कि वह रहस्य रहस्य नहीं प्रत्युत जीवन के लिए एक शिक्षा-प्रद पाठ है, वह ऐसी शिक्षा है, जो छोटे से लेकर बड़ों तक के लिए आदर्श है। वह शिक्षा, वह पाठ, वह सबक है—पारस्परिक सहयोग, प्रेम, धैर्य और शान्ति के साथ निरन्तर श्रम करते जाना, करते जाना !

गत ३२ वर्ष से एवरेस्ट विजय के लिए विभिन्न देशों के पर्वतारोही दल चढ़ाइयाँ कर रहे थे। १९५३ की विजय से पूर्व कई दलों को पराजित हो-होकर लौटना पड़ा। कई पर्वतारोही मार्ग में ही, समाप्त हो गए, कइयों के शारीरक अंग नष्ट हो गए, किन्तु प्रकृति पर

विजय पाने का साहस नष्ट नहीं हुआ। प्रत्येक असफलता के बाद अदम्य साहस के साथ पर्वतारोही आते ही रहे, और एक-दूसरे के सहयोग से सफलता पाने का यत्न करते रहे। निरन्तर सहयोगपूर्वक यत्न का ही यह परिणाम है कि एवरेस्ट-विजय जैसा असम्भव कार्य भी सम्भव बन सका है। एवरेस्ट विजय के लिए विभिन्न समयों पर जो प्रयास हुए हैं, उनका विवरण इस प्रकार है :

१. १८९३—१९०८ तक फ्रांसिस ने एवरेस्ट-आरोहण की योजना बनाई, पर वह कार्य-रूप में परिणित नहीं हुई।

२. सबसे पहला प्रयास १९२१ में किया गया। १८ मई, १९२१ को कर्नल हावर्ड के नेतृत्व में एक दल दार्जिलिंग से रवाना हुआ, किन्तु एक मास तक मार्ग आदि खोजने के बाद लौट आया।

३. दूसरा प्रयास—१९२२। ब्रिगेडियर जनरल ब्रूस के नेतृत्व में सामरवेल क्राफोर्ड ने आरोहण किया। इनमें से दो व्यक्ति २७,३०० फुट तक पहुँचने में समर्थ हुए।

४. तीसरा प्रयास—१९२४। इस बार ब्रिगेडियर जनरल ब्रूस ने कर्नल नार्टन के नेतृत्व में आरोहण किया, किन्तु २७,२०० फुट तक चढ़ सके। इसी वर्ष इरविन और मैलोरी नामक दो युवकों ने भी आरोहण किया था। जून, १९२४ में ये २५,००० फुट पर देखे गये थे, किन्तु उपरान्त इनका पता नहीं चला। वह हिमालय की हिम-राशि में ही समा गए।

५. चौथा प्रयास—१९३३। हवाई जहाज द्वारा एवरेस्ट पर ३३ हजार फुट तक की ऊँचाई पर उड़ा गया और चित्र लिये गये। अप्रैल १९५३ में श्री हग रेटलेज के नेतृत्व में एक दल २८,१०० फुट तक चढ़ सका।

६. पाँचवाँ प्रयास—१९३४। एवरेस्ट-विजयी शेरपा तेनसिंह

एक साधारण भार-वाहक के रूप में आरोहण-दल के साथ गया। विलसन के साथ २० हजार फुट की ऊँचाई तक आरोहण किया। कहते हैं मॉरिस विलसन २३ हजार फुट तक जाकर लौट नहीं सका!

७. छठा प्रयास—१९३५। एरिक शिपटन के नेतृत्व में २४,००० फुट तक चढ़ा गया। शेरपा तेनसिंह इस अभियान में भी भारवाहक था।

८. सातवाँ प्रयास—१९३६। यह दल भी श्री हग रटलैंज के नेतृत्व में २८,००० फुट तक चढ़ पाया।

९. आठवाँ प्रयास—१९३८। अब शेरपा तेनसिंह मार्ग-दर्शक तथा शेरपा सरदार के रूप मे टिलमैन के साथ २३,७०० फुट की ऊँचाई तक चढ़ा था।

१०. नौवाँ प्रयास—१९४६। अफ्रीकी पर्वतारोहियों के साथ शेरपा तेनसिंह २४ हजार फुट तक चढ़ा।

११. दसवाँ प्रयास—१९४७। डैनमैन के साथ एवरेस्ट पर असफल चढ़ाई की।

१२. ग्यारहवाँ प्रयास—१९४८। श्री बनर्जी के नेतृत्व में हुआ।

१३. बारहवाँ प्रयास—१९४९। श्री रिपले ने किया।

१४. तेरहवाँ प्रयास—१९५०। होस्टन और टिलमैन ने असफल आरोहण किया।

१५. चौदहवाँ प्रयास—१९५१। पुनः शिपटिन ने किया।

१६. पंद्रहवाँ प्रयास—१९५२। एडवर्ड वाईस के नेतृत्व में एक दल गया। इस प्रयास में शेरपा तेनसिह २८,२१५ फुट की ऊँचाई तक चढ़ा, जो उस समय का रिकार्ड था।

१७. सोलहवाँ प्रयास—१९५३। मार्च १९५३ में एक ब्रिटिश पर्वतारोही दल एवरेस्ट-विजय के लिए निकला। कर्नल जॉन हण्ट

इसके नेता थे। अब शेरपा तेनसिंह नोर्की इस दल का सदस्य था। २९ मई, १९५३, को शेरपा तेनसिंह ने एडमण्ड हिल्लेरी के साथ एवरेस्ट-विजय (२९,०१२ फुट) की।

ऊपर के प्रयासों को देखकर आप सहज ही समझ सकते हैं कि बारंबार असफलता होने पर भी एवरेस्ट-विजय की धारणा को छोड़ा नहीं गया। जिस अभियान दल के नौ सदस्यों ने एवरेस्ट विजय की है, उसमें तेनसिंह (भारतीय एवं नेपाली नागरिक), और स्विट्जरलैंड-वासी हिल्लेरी आदि भिन्न देशों के लोग थे। सहयोग और भ्रातृ-भाव का यह कितना बड़ा उदाहरण है।

शेरपा तेनसिंह और हिल्लेरी जब विश्व के उच्चतम गिरि-शृङ्ग पर पहुँचे तो तेनसिंह नोर्की के कथनानुसार उन्होंने, सर्वप्रथम एक दूसरे को बाहु-पाश में जकड़ लिया। मानो उस दिन पूर्व और पश्चिम—दोनों दिशाओं ने एक जी होकर अजेय प्रकृति पर विजय प्राप्त की थी। पूर्व और पश्चिम का वह अपूर्व सहयोग था, बंधु-प्रेम था। इसी सहयोग और बंधु-प्रेम के आधार पर ही विश्व में शांति स्थापित हो सकती है। उच्चतम शिखर पर आमने-सामने खड़े तेनसिंह और हिल्लेरी विश्व भर के लिए पारस्परिक सहयोग के आदर्श उदाहरण हैं।

शेरपा तेनसिंह नोर्की

साहस और धैर्य का पुतला शेरपा तेनसिंह नोर्की आप और हम जैसा ही साधारण मनुष्य है। किन्तु बाल्यकाल से चोमोलुंगमा के दर्शनों की अभिलाषा उनके मन में थी। पढ़ा-लिखा भी नहीं, किन्तु बुद्धिमान था वह। साधारण कुली से उन्नति कर वह कुलियों (शेरपा) का सरदार बना, फिर मार्ग-दर्शक, और फिर अभियान-दलों का सदस्य होकर निरन्तर श्रम करता रहा। शेरपा तेनसिंह नोर्की का जन्म नेपाल राज्य के थामें ग्राम में १९१४ में हुआ था। कुछ होश

सँभालने के बाद पर्वतारोहण की लालसा से वह दार्जिलिंग में आकर रहने लगे। यहीं से उनका पर्वतारोहण का जीवन आरम्भ होता है। दार्जिलिंग में शेरपा तेनसिंह तुगसुंग वस्ती में रहते है। उनकी पत्नी श्रीमती आंगल्हामू स्वस्थ एवं सरल-हृदया महिला हैं। उनकी दो कन्याएँ हैं जो नेपाली गर्ल्स हाईस्कूल में पढ़ रही है।

एवरेस्ट-विजय से लौटने पर नेपाल सरकार ने शेरपा तेनसिंह का शाही स्वागत किया। उन्हे 'नेपालतारा' की उपाधि प्रदान की गई। सर जॉन हंट (नेता) और साथी-विजेता सर एडमंड हिल्लेरी को नेपाल सरकार ने 'गोरखा दक्षिण बाहु' की उपाधियाँ प्रदान कीं। काठमांडू में श्री तेनसिंह का बड़ा भारी जलूस निकाला गया। उपरान्त वे कलकत्ता पहुँचे। वहाँ पश्चिमी-बंगाल सरकार और नागरिकों ने उनका अपूर्व स्वागत किया। कलकत्ता के बाद सारा दल दिल्ली पहुँचा। दिल्ली में श्री तेनसिंह का जनता तथा सरकार ने विशेष स्वागत किया। उपरान्त भारत के राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसाद ने कर्नल हंट (दल-नेता) तथा दोनों एवरेस्ट-विजेताओं को स्वर्ण-पदक प्रदान किये।

दिल्ली में सम्मान प्राप्त करने के उपरान्त श्री तेनसिंह सपरिवार पर्वतारोही दल के साथ लंदन गए। वहाँ सार्वजनिक स्वागत के अतिरिक्त सम्राज्ञी ने भी भारतीय वीर का स्वागत किया। इसके अनन्तर योरोप के अन्य देशों में भी पर्वतारोही-दल के सदस्यों का यथोचित सम्मान हुआ।

शेरपा तेनसिंह का साहस एवं धैर्य आदर्श है। साहस के बल पर मनुष्य क्या कर सकता है, तेनसिंह का जीवन, उसकी मुँह-बोलती कहानी है।